(देश देशान्तरों में प्रचारित, उच्च कोटि का अध्यात्मिक मासिक-पत्र)

मू० २॥)　　　　　सन्देश नहीं मैं स्वर्ग लोक का लाई ।　　　　　एक अंक ।)
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आई ॥

दक-पं० श्रीराम शर्मा आचार्य,　　　　सहा सम्पादक-प्रो० रामचरण महेन्द्र एम०ए०

८ }　　　　मथुरा, १ जून सन् १९४७ ई०　　　　{ अंक ६

बहुमूल्य वर्तमान का सदुपयोग कीजिए ।

मृत्यु और निर्माण के बीच में हम ठहरे हुए हैं। वर्तमान बडी तेजी से भूत की ओर दौडता है। भूत और मृत्यु एक ही बात है। कहते हैं कि मरने के बाद मनुष्य भूत बनता है। मनुष्य ही नहीं हर चीज मरती है और वह भूत बन जाती है। जब किसी वस्तु की सत्ता पूर्णतः समाप्त हो जाती है तो उसकी पूर्ण मृत्यु कही जाती है। पर आंशिक मृत्यु जन्म के साथ ही आरम्भ हो जाती है। बालक जन्म के बाद बढता है, विकाश करता है, उसकी यह यात्रा मृत्यु की ओर भी है।

संसार की हर वस्तु का - मनुष्य शरीर का भी—निर्माण उन्हीं तत्वों से हुआ है जो हर क्षण बदलते हैं। उनका चक्र भूत को पीछे छोडता हुआ और भविष्य को पकडता हुआ प्रति क्षण बडी तेजी के साथ आगे बढ रहा है। विश्व एक पल के लिए भी स्थिर नहीं रहता। अणु परमाणुओं से लेकर विशाल काय ग्रह पिण्ड तक अपनी यात्रा अविश्रान्त गति से कर रहे हैं।

हमारा जीवन भी हर घडी थोडा थोडा करके मर रहा है, इस दीपक का तेल शनैः शनैः चुकता चला जा रहा है। भविष्य की ओर हम चल रहे हैं, और वर्तमान को भूत की गोदी में पटकते जाते हैं, यह सब देखते हुए भी हम नहीं सोचते कि क्या वर्तमान का कोई सदुपयोग हो सकता है? जो बीत गया सो गया जो आने वाला है वह भविष्य के गर्भ है। वर्तमान हमारे हाथ में है। यह हम चाहें तो उसका सदुपयोग करके इन नश्वर जीवन में से कुछ अनश्वर लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

—o—

"अखण्ड-ज्योति" द्वारा प्रकाशित अमूल्य पुस्तकें।

यह बाजारू किताबें नहीं हैं। इनकी एक-एक पंक्ति में लेखकों का गहरा अनुभव एवं अनुसंधान इनमें जो पुस्तकें आपने अभी तक नहीं पढ़ी उन्हें आज ही मँगा लीजिए।

१—मैं क्या हूँ ?	।=)	३३–आकृति देखकर मनुष्य की पहचान	
२—सूर्य चिकित्सा विज्ञान	।=)	३४–मैस्-रेजम की अनुभव पूर्ण शिक्षा	
३—प्राण चिकित्सा विज्ञान	।=)	३ –ईश्वर और स्वर्ग प्राप्ति का सच्चा मार्ग	
४—परकाया प्रवेश	।=)	३६–हस्त रेखा विज्ञान	
५—स्वस्थ और सुन्दर बनने की अद्भुत विद्या	।=)	३८–विवेक सतसई	
६—मानवीय विद्युत के चमत्कार	।=)	३७–संजीवनी विद्या	
७—स्वर योग से दिव्य ज्ञान	।=)	३९–गायत्री की चमत्कारी साधना	
८—भोग में योग	।=)	४०–महान् जागरण	
९—बुद्धि बढ़ाने के उपाय	।=)	४१–तुम महान् हो	
१०–धनवान् बनने के गुप्त रहस्य	।=)	४२–गृहस्थ योग	
११–पुत्र या पुत्री उत्पन्न करने की विधि	।=)	४३–अमृत पारस और कल्पवृक्ष की प्राप्ति	
१२–वशीकरण की सच्ची सिद्धि	।=)	४४–घरेलू चिकित्सा	
१३–मरने के बाद हमारा क्या होता है	।=)	४५–बिना औषधि के काया कल्प	।
१४–जीव जन्तुओं की बोली समझना	।=)	४६–पांच तत्वों द्वारा सम्पूर्ण रोगों का निवारण	।
१५–ईश्वर कौन है ? कहां है ? कैसा है ?	।=)	४७–हमें स्वप्न क्यों दीखते हैं ?	।
१६–क्या धर्म ? क्या अधर्म ?	।=)	४८–विचार करने की कला	।
१७–गहना कर्मणोगति	।=)	४९–दीर्घ जीवन के रहस्य	।
१८–जीवन की गूढ़ गुत्थियों पर तात्विक प्रकाश	।=)	५०–हम वक्ता कैसे बन सकते हैं	।
१९–पञ्चाध्यायी धर्म नीति शिक्षा	।=)	५१–लेखन कला	।
२०–शक्ति संचय के पथ पर	।=)	५२–प्रार्थना के प्रत्यक्ष चमत्कार	।
२१–आत्म गौरव की साधना	।=)	५३–विचार संचालन विद्या	।
२२–प्रतिष्ठा का उच्च सोपान	।=	५४–नेत्र रोगों की प्राकृतिक चिकित्सा	।
२३–मित्र भाव बढ़ाने की कला	।=)	५५–अध्यात्म शास्त्र	।
२४–आन्तरिक उल्लास का विकाश	।=)	५६–स्वप्नदोष की मनोवैज्ञानिक चिकित्सा	।
२५–आगे बढ़ने की तैयारी	।=)	५७–सफलता के तीन साधन	।
२६–अध्यात्म धर्म का अवलम्बन	।=)	५८–शिखा और यज्ञोपवीतकी रहस्यमय विवेचना	।
२७–ब्रह्म विद्या का रहस्योद्घाटन	।=)	५९–दूध की चमत्कारिक शक्ति	
२८–ज्ञान योग, कर्म योग, भक्ति योग	।=)	६०–दैवी सम्पदाऐं	
२९–यम और नियम,	।=)	६१–अध्यात्म विद्या का प्रवेश द्वार	
३०–आसन और प्राणायाम	।=)	६२–कुछ धार्मिक प्रश्नों का उचित समाधान	
३१–प्रत्याहार, धारणा ध्यान और समाधि	।=)	६३–सुखी वृद्धावस्था	
३२–तुलसी के अमृतोपम गुण	।=)	६४–आत्मोन्नति का मनोवैज्ञानिक मार्ग	

पांच रुपये से अधिककी पुस्तकें लेनेपर डाकखर्च माफ,इससे कमकी पुस्तकोंका डाकखर्च ग्राहक के जिम्मे

पता:— "अखण्ड-ज्योति" कार्यालय, मथुरा।

मथुरा १ जून सन् १९४७ ई०

मनुष्यता का उत्तरदायित्व।

मनुष्य का पद बहुत ऊंचा पद है चौरासी लाख योनियों में सब से ऊँची मनुष्य योनि है। जब विकाश करते करते जीव इस दर्जे को प्राप्त करता है जो परमात्मा के प्रत्यक्ष सान्निध्य में आने का अधिकारी हैं तो उसे मनुष्य शरीर मिलता है। यह बहुत बडी सफलता है।

जैसे जैसे उच्चता प्राप्त होती है वैसे ही उत्तर-दायित्व बढता है। प्रतिष्ठा और गौरव प्राप्त होने के साथ उसकी रक्षा का भार भी आता है। छोटा बच्चा नङ्ग धड़ङ्ग फिर सकता है, वह क्षम्य है, क्योंकि मनुष्य की जिम्मेदारी अभी उस पर नहीं आई है। जब बालक पन समाप्त होता है तो वह जिम्मेदारी आजाती है उस समय कोई स्त्री पुरुष नङ्ग धडङ्ग होकर नहीं फिर सकता। और न इस प्रकार के आचरण कर सकता है जैसे कि बालक पन में किये जाते थे। पशु पक्षी काम सेवन के लिए मलमूत्र त्याग के लिए, एकान्त की आवश्यकता अनुभव नहीं करते, उन्हें मानापमान की भी चिन्ता नहीं होती पर मनुष्य ऐसी स्थिति स्वीकार नहीं कर सकता। वयस्क होते ही वह उन सब उत्तर दायित्वों को स्वयं शिर पर उठा लेता है जो सभ्य मनुष्य कहलाने के लिए आवश्यक हैं।

शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, आर्थिक साम्प्रदायक जिम्मेदारियां. उठाने के लिए हर मनुष्य को तत्पर होना पडता है। बीमारी से बचने की स्वस्थ रहने की फिकर अपनी समझ के अनुसार सब लोग करते हैं। अपने तथा अपने आश्रितों के भरण पोषण की,धन उपार्जन की आवश्यकता सब कोई अनुभव करता है। हिसाब किताब, ससारिक परिचय, विविधि विषयो की जानकारी प्राप्त करके मस्तिष्क को सुविकसित बनाने की, जरूरत सब लोग समझते हैं, और इसके लिए शिक्षा, स्वाध्याय, सङ्गति, भ्रमण आदि साधनों का आश्रय लेते हैं। भाई, बहिन, माता, पिता, स्वजन, सम्बन्धी, मित्र पडौसी, ग्राहक स्वजातियों स्वदेशीयों के साथ किस किस तरह का व्यवहार करना तथा अन्य लोगों के साथ किस किस प्रकार के व्यवहार करना, इन सब बातों को भली प्रकार समझा जाता है। त्यौहार देवता धर्म, पुस्तक, कर्मकाण्ड, मान्यताऐं, आदि के सम्बन्ध में अपनी मतिस्थिर करता है। इस प्रकार विविधि प्रकार की जिम्मेदारियां अपने ऊपर उठा लेने के पश्चात् कोई मनुष्य एक सभ्य नागरिक कहलाने का अधिकारी होता है। जो इन जिम्मेदारियों को उठाने में जितनी ही आनाकानी करता है, वह उतना ही बेवकूफ, बेशर्म बेऐतबार समझा जाता है दुनियां में उसे उतने ही अंशों में घृणा, अविश्वास की दृष्टि से देखा जाता है। आवश्यक जिम्मेदारियों को कंधे पर न उठाना सचमुच जीवन के लिए एक कलङ्क की बात है। ऐसे कलङ्की आदमी समाज में घृणास्पद समझे ही जाने चाहिए।

इन सब उत्तरदायित्वों से ऊँचा एक और उत्तर दायित्व है, वह है आध्यात्मिक उत्तर दायित्व। यही सब से बड़ा जिम्मेदारी है, जिसे कंधे पर उठाने

से आत्मा अपने आत्म सम्मान की रक्षा करने में समर्थ होता है। ऊपर कहे हुए सांसारिक उत्तर-दायित्वों को निबाहने से मनुष्य की सांसारिक प्रतिष्ठा स्थापित होती है इस लिए वह उनकी रक्षा करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है और उनके ऊपर कोई आंच आती है तो उसकी रक्षा के लिए कष्ट सहने को,संघर्ष करने को, त्याग बलिदान करने को, तैयार रहता है। स्वास्थ्य रक्षा के लिए, व्यायाम का, संयम का, कड़ुई औषधि पीने का कष्ट सहना पडता है। धन कमाने और उसकी रक्षाकरने में काफी सावधानी रखनी पडती है और मौका पडने पर चोर, डाकू, ठग, उचक्कों से संघर्ष करना पडता है। मानसिक उत्तरदायित्व को सँभालने के लिए चैन, आराम छोड कर चित्त को सोचने में चिन्तन में, मनन में, एकाग्रभाव से लगाये रहना पडता है। मौका पडने पर मन को मारना और दबाना पडता है। सामाजिक प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए सङ्गठित होना पडता है, समूह बनाना पडता है और सामूहिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए अपने व्यक्तिगति स्वार्थों को छोडना पडता है। जैसे साम्प्रदायिक जिम्मेदारियों के लिए, कथा,व्रत, उद्यापन; संस्कार ब्रह्मभोज, प्रीतिभोज, पूजा, अनुष्ठान, त्यौहार आदि के खर्च तथा व्यवस्था का श्रम बहन करना पडता है। वैसे ही अध्यात्मिक उत्तरदायित्वों की पूर्ति के लिए भी मनुष्य को सदैव सचेत रहना पडता है इन्द्रिय दमन करना पडता है; स्वार्थों पर अङ्कुश रखना पडता है, हीन भावनाओं को दबाना पडता है और अवसर आने पर कहीं अग्नि परीक्षा देने के लिए भी तैयार रहना पडता है।

आत्म सम्मान की रक्षा के लिए उन मर्यादाओं का ध्यान रखना होता है जिससे अपने व्यक्तित्व की सचाई, ईमानदारी, महत्ता, गौरवशालीनता पर आँच न आने पावे। बात का धनी,बचन का सच्चा अपने विश्वासों के प्रति बफादारी, रखने वाला—खरा—आदमी, मर्यादा की रक्षा के लिए बडी से बडी कुर्बानी करने को, प्राण देने तक को तैयार रहता है। इनका दृढ विश्वास होता है—

रघुकुल रीति सदा चलि आई।
प्राण जाँय पर बचन न जाई॥

खरे आदमी वक्त पडने पर इसे चरितार्थ भी करते हैं। राजा हरिश्चन्द्र चाहते तो विश्वामित्र से अपना बचन मुकर सकते थे और स्त्री बच्चों को बेचने का। स्वयं भङ्गी के हाथों बिकने का, पुत्र की मृत्यु पर अपनी स्त्री से कर मांगने का कष्ट बचा सकते थे.पर उन्होंने इन सब बातों को सहन करना ही बचन भङ्ग करने की अपेक्षा उचित समझा। राजामोरध्वज ने अपने बेटे को भिक्षुक साधु केलिए चीर दिया। वह चाहते तो भिक्षुक से बचन पलट सकते थे, उनने बचन रक्षा को ही महत्व दिया। हकीकत राय आज की कूट नीति को अपना सकते थे, वे उस वक्त मुसलमान होना स्वीकार करके अपनी जान बचा सकते थे, पर उन्होंने प्राण को तुच्छ समझा और अपने विश्वासों की रक्षा के लिए प्राणों को तिनके के समान तोड कर फेंक दिया। बंदा बैरागी का खौलते कढाव में जलना, ईसा का क्रूस पर चढना राणा प्रताप का घास की रोटी खाकर जङ्गलों में मारे मारे फिरना, यह सब रुक सकता था यदि वे अपनी प्रतिज्ञा छोड देते, विरोधियों के सामने जरा सा झुक जाते पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। विश्वासकी रक्षा करना उनके लिए प्राण रक्षा से बहुत अधिक मूल्यवान था। चित्तौर की रानियों का अग्नि में आत्मदान करना सतीत्व को बचाना आत्मगौरव की रक्षा का जीता जागता प्रमाण है। इतिहास का पन्ना-पन्ना इस प्रकार की घटनाओं से रँगा हुआहै। हमारी संस्कृतिका नैतिक धरातल आत्म सम्मान की रक्षा को सर्वोपरि महत्व देने का रहा है।

आज हम देखते हैं कि मनुष्य समाज में इस नैतिक, अध्यात्मिक उत्तरदायित्व की रक्षा सम्बन्धी शिथिलता अत्यधिक बढ गई है। बात बात में झूठ बोलने वाले,बचन कह कर पलट जाने वाले, मिथ्या आडम्बर बनाने वाले, धूर्त, बेईमान व्यभिचारी

विश्वास घाती, लोभी, लम्पट, खुशामदी, चापलूस गरीब को सताने वाले, बलवान् अन्यायी का साथ देने वाले, लोगों की संख्या का अनुपात समाज में दिन दिन बढता जाता है। थोड़े से लोभ का अवसर आने पर लोग अपनी जवान, प्रतिज्ञा और मर्यादा को तोड़ देते हैं। झट वचन पलट कर कुछ का कुछ कहने लगते हैं। इसे आत्मिक पतन की दुखदायी स्थिति ही कहा जा सकता है।

कुछ समय पूर्व लोग मूंछ का बाल उखाड़ कर गिरवी रख जाते थे, और उसे छुड़ाने के समय पर पैसे की व्यवस्था करते थे। जब कागज का चलन हुआ तो सफेद कागज पर आडी तिरछी रिखाऐं खींच कर कर्ज लेने वाला सफेद पर स्याही कर देता था बस वह वायदा पत्थर की लकीर हो जाता था। परलोक के लिए कर्ज देने वाले कितने ही साहूकार थे जो कर्ज लेने वाले से किसी प्रकार की लिखा पढी नहीं कराते थे, और कह देते थे कि इस जन्म में कर्ज न चुका सके तो अगले जन्म में इस ब्याज के साथ अपना कर्ज वसूल करूँगा। इस प्रतिज्ञा को कर्ज लेने वाला विलकुल सच्चा समझता था, और हर सूरत में कर्ज को इसी जन्म में चुका देता था, वह न चुका पाया तो अपने पुरखा के परलोक को ऋण मुक्त करने के लिए उसके बेटे पोते उस कर्ज को चुकाते थे। पर आज तो सच्ची लिखा पढी, कागज तमस्सु झूठ ठहरा दिये जाते हैं। जवानी हिसाब किताब पर तो जरा सा मौका मिलते ही लोग पानी फेर देते हैं।

राम की सी पितृ भक्ति, भारत का सा भ्रातृ प्रेम, श्रवण कुमार की सी माता पिता की सेवा, आज दीपक लेकर ढूढना पड़ेगा। हरिश्चन्द्र के से आज्ञा पालक स्त्री बच्चे किसी विरले ही घर में मिलेंगे। दधीच से अस्थिदान करने वाले कर्ण से कवच कुण्डल उतार देने वाले, भामाशाह से सर्वस्व दान करने वाले ढूंढना आसान काम नहीं रहा। बुद्ध महावीर शङ्कराचार्य से और दयानंद से धर्म प्रचारक ढूंढना आज कठिन है। जिधर देखिये उधर वंचकता फैल रही है। समाज का नैतिक स्वास्थ्य बहुत ही बुरी तरह नष्ट भ्रष्ट हुआ हम देख रहे हैं। मनुष्यता का मूल्य, धर्म के लिए, आत्मा की गौरव रक्षा के लिए, बलिदान की भावनाऐं आज लुप्त होती सी दिखाई पड रही है। कूटनीति का नक्कारा चारों ओर बज रहा है।

महाभारत के शत्रु दल युद्ध बन्द होने पर रात को साथ साथ हँसते बैठते थे, विराम काल में, कोई हथियार न उठाता था, बिना शास्त्र के योद्धा पर तब तक दूसरा पक्ष हथियार न चलाता था, जब तक उसके हाथ के वह स्वयं तलवार न दे देता था। शिवाजी ने शत्रु की बेटी को अपनी बेटी कह कर उसकी सतीत्व रक्षा करते हुए उसके घर लौटा दिया था। रावण जैसे दुष्ट ने भी सीता के सतीत्व पर बलात्कार करने का साहस न किया था। पर आज तो साम्प्रदायिक दङ्गों में जो कुछ हो रहा है उससे शैतान भी शर्म से शिर झुका लेता है।

मनुष्यो! आत्माओ! आत्मिक उत्तर दायित्व से इस प्रकार इनकार मत करो। अपनी अमूल्य महानता इस प्रकार कौड़ियों के मूल्य मत बेचो। मनुष्यता के गौरव को इतना बदनाम न करो।

आत्मा का, मनुष्यता का, इंसानियत का उत्तर दायित्व बहुत बड़ा है उसे इस प्रकार तिलाञ्जलि मत दो। अपनी मर्यादा की ओर देखो। ऐसे काम करो जो मनुष्यता की महानता को कलङ्कित न करते हैं।

सद्व्यवहार में शान्ति है। जो सोचता है कि मैं दूसरों के काम आ सकने के लिए कछ करूँ वही आत्मोन्नति का सच्चा पथिक है।

अन्धों की दुनियां।

यह दुनियां अंधों का एक विचित्र मजमा है। विचित्र इसलिए कि लोग समझते हैं हमारी आंखें मौजूद हैं—हम देखते हैं तो भी वस्तुतः वे अँधे ही हैं। जरा आंखें मूंद कर देखिए तो सही इन आंख वालों में अधिकांश अन्धे ही अन्धे भरे पड़े हैं।

लोभी पुरुष अन्धा है। क्योंकि वह यह नहीं देखता कि इस संपत्ति का क्या करूँगा? जिस तरह इसे जोड़ने और जमा करने में जुटा हुआ हूँ इससे मेरा क्या हित होगा?

असंयमी अन्धा है। क्योंकि वह यह नहीं देखता कि—लगातार खर्च करने से, आमदनी से ज्यादा, खर्च करने से मेरा कोष चुक जायगा और शीघ्र ही दिवालिये की दुर्दशा भोगनी पड़ेगी।

युवा अंधा है। क्योंकि वह चमकती हुई जवानी को देखता है पर लाचारी भरे रूप बुढ़ापे को नहीं देखता। उसे नहीं मालूम कि आज का इठलाता हुआ यौवन कल पानी के बुलबुला की तरह बैठ जाने वाला है।

वृद्ध अंधा है। क्योंकि वह मृत्यु को नहीं देखता। मौत की गोद में झूलते हुए भी, संसार से बहिष्कृत होते हुए भी भोगों में असमर्थ होते भी वह माया ममता को नहीं छोड़ता।

पुजारी अन्धा है। क्योंकि वह पूजा का इतना आडम्बर तो करता है पर यह नहीं देखता कि ईश्वर को सब आडम्बरों से नहीं रिझाया जा सकता है।

तीर्थ यात्री अन्धा है। क्योंकि वह दूर देशों में भ्रमण करता है; नदी तलाबों और मन्दिरों मठों में ईश्वर को तलाश करता है पर यह नहीं देखता

पापी अन्धा है। क्योंकि वह तात्कालिक लाभ को देखता है पर उस पापके कारण जो दुराह पीड़ा मिलने वाली है उसे नहीं देखता।

उपदेशक अंधा है। क्योंकि वह यह नहीं देखता कि पाण्डित्य पूर्ण वक्ताओं का नहीं, क्रियात्मक आचरण का उपदेश ही दूसरों पर प्रभाव डालता है।

यशेच्छु अन्धा है। जो अपने बनाये हुए ऊंचे शिवालय को अमर कीर्ति समझता है पर यह नहीं देखता कि उस दिन के बने विशाल भवन आज खंडहर मात्र रह गये हैं।

चोर अंधा है। क्योंकि वह माल को देखता है पर ईश्वर को नहीं देखता। दूसरों की आंखों में धूलि झोंक कर वह माल ले जाता है पर उसे नहीं मालूम कि शक्तिवान् सत्ता उसके शिर पर खड़ी यह सब देख रही है और जितना चुराया है उससे अधिक उगलवा लेने के लिए प्रबंध कर रही है।

विद्वान् अंधा है। क्योंकि वह अपने ज्ञान को ती देखता है, पर अज्ञान को नहीं देखता। मैंने इतने ग्रन्थ पढ़े हैं यह तो उसे याद होता है पर याद नहीं होता कि जितने ग्रन्थ अभी पढने शेष है, उनकी तुलना में पढे हुए ग्रन्थों का परिमाण इतना ही है जितना समुद्र के मुकाबिले में एक बूंद।

साधु अन्धा है। क्योंकि वह साधुता को देखता है असाधुता को नहीं। वह भूल जाता है कि उसके सीधेपन का अनुचित लाभ उठाकर कितने ही दुष्ट निर्भय होकर दुष्टता करते हैं। इस प्रकार उसकी साधुता असाधुता को बढने का निमित्त बनती है।

ईश्वर अन्धा है। क्योंकि उसे यह नहीं दीखता कि मैं जिस संसार की रचना कर रहा हूँ, उसमें शैतान घुस पडा है। और मेरी पुनीति कृति को कलङ्क की कलिया से पोत रहा है।

इन पंक्तियों का लेखक अन्धा है। क्योंकि

हे पवित्र !—
अपने को यज्ञ में झोंक दे !

—•••:❀:•••—

स्वयं यजस्व दिवि देव देवान् किं ते पाकः कृणवद प्रचेताः । यथा यज ऋतुभिर्देवानेवा यजस्व तन्वं सुजात । ॥ ऋगवेद १०।७।६ ॥

हे (देव) दिव्य स्वभाव वाले ! तू (स्वयम्) अपने आप (दिवि) मस्तिष्क में विद्यमान (देवान्) देवों को, दिव्यभावों को (यजस्व) यज्ञ कर, समर्पण कर, (अप्रचेताः) मूढ़ अज्ञानी, (पाकः) परिपक्व पवित्र (ते) तेरा (किं) क्या (कृणवत्) कर सकता है। (यथा) जैसे तू (ऋतुभिः) ऋतुओं के अनुसार (देवान्) देवों को (अयजः) यजन करता है (एवा) ऐसे ही हे ((सुजात) उत्तम से उत्पन्न हुए ! (तन्वं) शरीर को (यजस्व) यजन कर।

हे दिव्य स्वभाव वाले, यज्ञ कर साधारण पाँच यज्ञ तो नित्य ही होते हैं। अलग अलग ऋतुओं में पर्वों पर, संस्कारों, उत्सवों, आयोजनों, अनुष्ठानों के अवसर नैमित्तिक यज्ञ भी होते ही रहते हैं। आज वेद भगवान इन नित्य के, निमित्त के, यज्ञों से, अग्निहोत्रों से भिन्न प्रकार का यज्ञ करने के लिये तुझे बुलाते हैं। यह यज्ञ विशिष्ट प्रकार का होगा। यह अध्यात्म यज्ञ है।

यह यज्ञ कहाँ होगा ? कौन करेगा ? किस देवता के लिये यह यज्ञ किया जायगा ? किस सामिग्री से हवन होगा ? यह प्रश्न विचारणीय है। क्यों कि जब यह यज्ञ विशेष प्रकार का है तो उसका विधिविधान भी विशेष प्रकार का ही होगा। वेद ने इसी मन्त्र में वह सब कुछ समझा दिया है। उसने कहा है कि-तू अपने आप यज्ञ कर, स्वयं ही होता, स्वयं यजमान, स्वयं पुरोहित बन। इस यज्ञ का स्थान होगा-दिविद्यु लोक, मस्तिष्क। यह यज्ञ देवताओं के लिये किया जायगा। कौन देवता ? वे देवता जो दिव्य भाव बन कर तेरे अन्दर निवास करते हैं। सामिग्री के स्थान पर तुझे अपना शरीर ही होमना पड़ेगा। ऐसे दिव्य यज्ञ की वेद भगवान मांग करते हैं। हे दिव्य स्वभाव वाले! हे सर्वोत्तम परमात्मा से उत्पन्न हुए आत्मा ! तू ऐसा यज्ञ कर सकता है। क्यों कि तू परिपक्व है ! पवित्र है !

गीता का कथन है—

सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्ट कामधुक् ।
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञ भाविताः।
।३।१०।१२।

प्रजापति, परमात्मा ने यज्ञ सहित प्रजा को रच कर कहा कि इस यज्ञ द्वारा तुम लोग उन्नति को प्राप्त होओ और यह यज्ञ तुम लोगों की मनोकामनाओं को पूरा करने वाला होवे। यज्ञ द्वारा प्रसन्न किये हुए देवता लोग तुम्हारे लिये बिना माँगे ही वांछित भोगों को देंगे।

मनोवांछित अभिलाषाओं को देव पूरा करते हैं, मनुष्य स्वयं उन्हें पूरा नहीं कर सकता। इच्छा पूर्ति का साधन जुटाया जाता है परन्तु इच्छा साधन से बढ़ जाती है। चाहे जितने साधन जुटाये जाँय पर वे बड़े से बड़े साधन इच्छा की अपेक्षा छोटे ही रहते हैं। एक वस्तु मिली कि दूसरी की चाह हुई। धन, मान, बड़ाई, प्रशंसा, स्त्री, पुत्र, आदि चाहे कितने ही अधिक क्यों न हों मन उससे न अघाता है, न तृप्त होता है। मनोवाञ्छा पूरी होती ही नहीं, फलस्वरूप वह सदा अशान्त, इच्छुक, अभावग्रस्त, जरूरत मन्द बना रहता है। इस विषम स्थिति से बचाने की शक्ति देवों में है। वे देव यज्ञ से उत्पन्न होते हैं और प्रसन्न होने पर मनोवाञ्छा पूरी करते हैं।

दिव्य भावों को देव कहते हैं, वे द्यु लोक में मस्तिष्क के मध्य केन्द्र ब्रह्म रन्ध्र में रहते हैं दया, प्रेम, मैत्री, करुणा, सेवा, सहायता, आत्मीयता, प्रसन्नता सरीखे सूक्ष्म भावों में जब

मनुष्य रमण करने लगता है तो उसे ऐसा उच्च कोटि का आत्मिक आनन्द आता है जिसकी तुलना में विषय भोग, धन और गर्व पोषण के सुख बहुत ही तुच्छ, बहुत ही नीचे दर्जे के दृष्टिगोचर होने लगते हैं। जिसने मिश्री नहीं चखी है उसके लिये गुड़ ही बढ़िया चीज है, पर जब वह मिश्री चख लेता है तो गुड़ को छोड़ कर उसे ही अपनाता है। मन जिन सांसारिक भोगों की तृष्णाओं में भटक रहा था, उनसे ऊंची अधिक स्वादिष्ट, अधिक रसमयी, कोई वस्तु उसके अनुभव में आती है तो वह घटिया चीज को छोड़ देता है। इस परिवर्तन के होते ही मनोवाञ्छा पूर्ण होने लगती है। दिव्य भावों का, दिव्य ज्ञान का, प्रकाश मानस लोक में फैलते ही अन्धकार दूर हो जाता है। मन अंधेरे में टटोलना, अनिश्चित दिशाओं में भटकना छोड़ कर एक सुनिश्चित आधार प्राप्त कर लेता है। छोटा बालक दुकानों की रंगबिरंगी सभी चीजों के लिये ललचाता है, माँगता है और कभी कभी मचल भी जाता है पर बड़ा आदमी उन चीजों की असलियत समझता है और उनकी ओर आँख उठा कर भी नहीं देखता। यदि कोई चीज खरीदता है तो उपयोगिता और आवश्यकता को ध्यान में रखता है, बालक की तरह "चमकीली चीजों का संग्रह" उनकी नीति नहीं होती। बालक की तृष्णा-वयस्कता आने पर, चीजों की वास्तविकता का ज्ञान होने पर, अपने आप शान्त हो जाती है उसी प्रकार अज्ञानियों को हर घड़ी बेचैन बनाये रहने वाली अनेकों तृष्णाएं तब शान्त होती है जब आत्मिक वयस्कता आती है, जब ज्ञान का, दिव्यता का प्रकाश होता है। सांसारिक सम्पदाओं की तुच्छता का तब अनुभव होता है, जब दिव्य भावों में रमण करने का रस उसे चखने को मिलता है। यह रसास्वादन उसकी तृष्णाओं को मनोवाञ्छाओं को शान्त कर देता है और एक ऐसी स्थिति सामने ला देता है जिसे पाकर और कुछ पाने की अभिलाषा नहीं होती इस प्रकार देवता-दिव्य भाव-हमारी सब मनोकामनाओं को पूरी कर देते हैं।

यह देवता-दिव्य भाव-बढ़ते किस समय हैं? जागृत किस तरह होते हैं? प्रसन्न किस तरह होते हैं? इसका उत्तर गीता और श्रुति दोनों एक स्वर में देती हैं-देवता यज्ञ से प्रसन्न होते हैं। सत्कर्म को यज्ञ कहा है। कर्म से भावों की पुष्टि होती है। केवल मात्र विचार करते रहने से, कल्पना की तरंगों पर उड़ते रहने से, मनसूबे बाँधते रहने से, योजनाएं बनाते रहने से, संकल्प करते रहने से कुछ अधिक प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। मन के मोदक खाने से भूख नहीं बुझती। भूख बुझाने के लिये तो थाली में परोसा हुआ अन्न सामने आना चाहिये। यह सत्य है कि कर्म से भाव की पुष्टि होती है। दो पहिये मिल कर जैसे एक गाड़ी को गतिवान बनाते हैं वैसे ज्ञान और कर्म मिल कर एक "साधन" बनता है। देवता यज्ञ से बढ़ते हैं। सत्कर्म करने से देवताओं का, दिव्य भावों का बल बढ़ता है, इसलिये यदि हम मनोवाञ्छाएं पूर्ण करने का अतुलित आनन्द उठाना चाहते हैं तो देवताओं को-दिव्य भावों को बढ़ाने वाले यज्ञों को, सत्कर्मों को करना चाहिये।

जो दिव्य भाव मन में उत्पन्न होते हैं, उन्हें कार्य रूप में परिणत करना चाहिये। अपनी भीतरी बुराइयों को ध्यान पूर्वक देखना चाहिये जो त्रुटियाँ अपने में हों उन्हें हटाने के लिये उनके विरोधी आचरण करने चाहिये। जैसे प्रातः दिन चढ़े तक सोने की आदत हो तो बलात्, हठ पूर्वक जल्दी उठने की व्यवस्था करनी चाहिये। घड़ी में एलार्म भर कर या कोई जगाने वाला नियुक्त करके उस बुरी आदत का विरोधी आचरण आरम्भ कर देना चाहिये। इस विरोधी आचरण से ही उसका निवारण हो सकता है। इसी प्रकार जिन अच्छाइयों को बढ़ाने की आवश्यकता हो, उन्हें हठ पूर्वक बलात् करना चाहिये, मन न लगता हो तो भी बल पूर्वक इस काम को करना चाहिये। स्वाध्याय, आत्मचिन्तन, दान, सेवा,

परमार्थ, आदि कार्यों में प्रायः मन की रुचि कठिनता से झुकती है। पर दृढ़ निश्चय के साथ लगातार, प्रतिदिन, उन कार्यों की पुनरावृत्ति करने पर फिर उसी प्रकार की आदत पड़ जाती है और उसी प्रकार के आचरण करने का स्वभाव बन जाता है। दिव्यता की स्थापना का विचार ही करना संकल्प है। क्या दिव्यता स्थापित की जाय? किस प्रकार की जाय? यह योजना निश्चित करना मन्त्र है, उस योजना के अनुसार कार्य आरम्भ कर देना यज्ञ है।

उस यज्ञ के लिये सामिग्री क्या पड़े? श्रुति कहती है—हे उत्तम सेउत्पन्न हुए! हे परमात्मा के युवराज! 'यजस्व तन्वं' अपने शरीर को यजन कर डाल। अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों को सत्कर्म में लगा डाल। जैसे पैसे खर्च करके बजार से हवन सामिग्री खरीद ली जाती है और दक्षिणा देकर जप करने वाले, अग्निहोत्र कराने वाले बुला लिये जाते हैं उस प्रकार इस अध्यात्म यज्ञ में काम नहीं चल सकता। इस यज्ञ में तो अपना शरीर हवन करना पड़ेगा। अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों को लगाना पड़ेगा। केवल धन खर्च करके कोई विद्या नहीं खरीद सकता, कोई बल नहीं खरीद सकता, कोई प्रेम नहीं खरीद सकता, इसी प्रकार धर्म भी नहीं खरीदा जा सकता, दिव्य ज्ञान भी नहीं खरीदा जा सकता। इस महान् यज्ञ में तो आत्म बलिदान करना पड़ेगा। मन को नियोजित करना पड़ेगा और शरीर का श्रम लगाना पड़ेगा।

शरीर की परवा मत करो। शरीर की इन्द्रियाँ जिन जिन विषयों की ओर दौड़ती हैं उनकी परवा मत करो, मन की परवा मत करो, मन की माया मयी भौतिक इच्छा, आकांक्षा और तृष्णाओं की परवा मत करो। इनको सत्कर्म रूपी यज्ञ में झोंक दो। वेद कहता है—हे सुजात्! हे पवित्र! हे दिव्य! यज्ञ कर, देवताओं के लिये यज्ञ कर, अपने तन मन को सत्कर्म रूपी यज्ञ में झोंक दे। आत्ममेध की आहुति देकर, इस महान् यज्ञ को पूरा कर।

यह श्रुति की वाणी, पुकार, याचना सुन कर आत्मन्! झिझको मत! यह मत सोचो कि पुराना स्वभाव, संस्कार, आत्म बलिदान के मार्ग से रोकेगा। पुराने साथियों का समाज विघ्न डालेगा और कहेगा, "सत्कर्म के, त्याग, बलिदान और लोक सेवा के पथ पर मत चलो, इस मार्ग में कठिनाई है, वह पुराना संचय और भोग प्रधान मार्ग ही अच्छा है।" पर तुम इस विघ्न से मत डरो। इससे मत झिझको, इस संकोच में मत रुको। क्यों कि यह अप्रचेता है, अज्ञान और मूढ़ता मय है, तुच्छ है, उपेक्षणीय है। यह तुच्छ सा विघ्न तुम्हारा मार्ग नहीं रोक सकता। वह 'किं ते कृणवत्' तेरा क्या कर लेगा? ठुकरा देने पर तेरा क्या बिगाड़ कर सकेगा? ठुकरा देने में किसी प्रकार का कुछ बिगाड़ नहीं है, इस मूढ़ भय को हटा देना ही श्रेयष्कर है।

वेद कहता है—हे मनुष्य तू उत्तम से उत्पन्न हुआ है, नीच से नहीं। हे मनुष्य! तू दिव्य है, घृणित नहीं। हे मनुष्य तू पवित्र है, अपवित्र नहीं। इसलिये अपने आत्म गौरव के अनुसार काम कर। देवता को बढ़ाने वाला यज्ञ कर। उस यज्ञ में अपने आप को झोंक दे।

\+ \+ \+

जिस सोने चाँदी के जमा होने में राजा का, अग्नि का, जलका, चोर का और अपने सगे सम्बन्धियों तक का भय बढ़ जाता है, भला वह भी कोई धन है? सच्चा धन तो आत्म ज्ञान है जिसके प्राप्त होते ही मनुष्य दसों दिशाओं से निर्भय हो जाता है।

\+ \+ \+

प्रयत्न से सांसारिक समृद्धि मिलती है, प्रयत्न से आत्मिक सम्पदाऐं मिलती हैं, प्रयत्न से परमात्मा मिलता है, इसलिये प्रयत्न ही प्रधान है।

तेतीस कोटि देवता क्या हैं?

—❀—

हिन्दू धर्म में अनेक देवी देवताओं की मान्यता है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीन प्रधान देवता हैं। दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती, पार्वती देवियाँ एवं इन्द्र, गणेश, वरुण, मरुत, अर्यमा, सूर्य, चन्द्र, भौम, बुद्ध, गुरु, शुक्र, शनि, अग्नि, प्रजापति आदि देवताओं का स्थान है। गंगा, यमुना, सरस्वती आदि नदियाँ, गोवर्धन, चित्रकूट, विन्ध्याचल आदि पर्वत तुलसी, पीपल आदि वृक्ष, गौ, बैल आदि पशु, गरुण, नीलकण्ठ आदि पक्षी, सर्प आदि कीड़े भी देवता कोटि में गिने जाते हैं। भूत, प्रेतों से कुछ ऊंची श्रेणी के देवता भैरव, क्षेत्रपाल, यक्ष, ब्रह्म-राक्षस, वैताल, कूष्माण्ड, पीर, वली, औलिया आदि हैं। फिर ग्राम्य देवता और भूत, प्रेत, मसान, चुड़ैल आदि हैं। राम, कृष्ण, नृसिंह, वाराह, वामन आदि अवतारों को भी देवताओं की कोटि में गिना जा सकता है।

इन देवताओं की संख्या तेतीस कोटि बताई जाती है। कोटि के शब्द के दो अर्थ किये जाते हैं (१) श्रेणी (२) करोड़। तेतीस प्रकार के, तेतीस जाति के ये देवता हैं। जाति, श्रेणी या कोटि शब्द बहु वचन का बोधक है। इससे समझा जाता है कि हर कोटि में अनेकों देव होंगे और तेतीस कोटियों-श्रेणियों के देव तो सब मिल कर बहुत बड़ी संख्या में होंगे। कोटि शब्द का दूसरा अर्थ 'करोड़' है। उससे तेतीस करोड़ देवताओं के अस्तित्व का पता चलता है। जो हो यह तो मानना ही पड़ेगा कि हिन्दू धर्म में देवों की बहुत बड़ी संख्या मानी जाती है। वेदों में भी तीस से ऊपर देवताओं का वर्णन मिलता है।

देवताओं की इतनी बड़ी संख्या एक सत्य शोधक को बड़ी उलझन में डाल देती है। वह सोचता है कि इतने अगणित देवताओं के अस्तित्व का क्या तो प्रमाण है, और क्या उपयोग? इन देवताओं में अनेकों की तो ईश्वर से समता है। इस प्रकार 'बहु ईश्वरवाद' उपज खड़ा होता है। संसार के प्रायः सभी प्रमुख धर्म 'एक ईश्वर वाद' को मानते हैं। हिन्दू धर्म शास्त्रों में भी अनेकों अभिवचन एक ईश्वर होने के समर्थन में भरे पड़े हैं। फिर यह अनेक ईश्वर कैसे? ईश्वर की ईश्वरता में साझेदारी का होना कुछ बुद्धि संगत प्रतीत नहीं होता। अनेक देवताओं का अपनी अपनी मर्जी से मनुष्यों पर शासन करना, शाप, वरदान देना, सहायता या विघ्न उपस्थित करना एक प्रकार से ईश्वरीय जगत की अराजकता है। कर्म फल के अविचल सिद्धान्त की परवा न करके भेंट पूजा से प्रसन्न अप्रसन्न होकर शाप वरदान देने वाले देवता लोग एक प्रकार से ईश्वरीय शासक में चोर बजार, घूसखोरी, डाकेजनी एवं अनाचार उत्पन्न करते हैं। इस अवाञ्छनीय स्थिति को सामने देख कर किसी भी सत्य शोधक का शिर चकराने लगता है। वह समझ नहीं पाता कि आखिर यह सब है क्या प्रपंच?

देवता वाद पर सूक्ष्म रूप से विचार करने से प्रतीत होता है कि एक ही ईश्वर की अनेक शक्तियों के नाम अलग अलग हैं और उन नामों को ही देवता कहते हैं। जैसे सूर्य की किरणों में सात रंग हैं उन रंगों के हरा, पीला, लाल, नीला आदि अलग अलग नाम हैं। इसी प्रकार अल्ट्रा वायलेट किरणें, एक्स किरणें विलडन किरणें आदि अनेकों प्रकार की किरणें हैं उनके कार्य और गुण अलग अलग होने के कारण उनके नाम भी अलग अलग हैं इतने पर भी वे एक ही सूर्य की अंश हैं। अनेक किरणें होने पर भी सूर्य एक ही रहता है। इसी प्रकार एक ही ईश्वर की अनेक शक्तियाँ अपने गुण कर्म के अनुसार विविध देव नामों से पुकारी जाती हैं। मूलतः ईश्वर तो एक ही है। एक मात्र ईश्वर ही इस सृष्टि का निर्माता, पालन कर्ता और नाश करने वाला है। उस ईश्वर की जो शक्ति निर्माण एवं उत्पत्ति करती है उसे ब्रह्मा, जो पालन, विकास एवं शासन करती है वह विष्णु,

जो जीर्णता, अवनति एवं संहार करती है उसे शंकर कहते हैं। दुष्टों को दण्ड देने वाली दुर्गा, सिद्धिदाता गणेश, ज्ञान दाता सरस्वती, श्री समृद्धि प्रदान करने वाली लक्ष्मी,जल वर्षाने वाली इन्द्र, इसी प्रकार हनुमान आदि समझने चाहिये। जैसे एक ही मनुष्य के विविध अंगों को हाथ,पैर, नाक, कान, आँख आदि कहते हैं, इसी प्रकार ईश्वरीय सूक्ष्म शक्तियों के उनके गुणों के अनुसार विविधि नाम हैं वही देवता हैं।

कैवल्योपनिषद् कार ऋषि का कथन है-'स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रस्स शिवस्सोऽक्षरस्स परमः स्वराट्। स इन्द्रस्स कालाग्निस्स चन्द्रमाः।' अर्थात् वह परमात्मा ही ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, शिव, अक्षर, स्वराट्, इन्द्र, काल, अग्नि और चन्द्रमा हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद मं० १ सू० १६४ मं० ४६ में कहा गया है कि-'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यस्य सुपर्णो गरुत्मान्। एवं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वान माहुः।' अर्थात् विद्वान् लोग ईश्वर को ही इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, गरुत्मान्, दिव्य, सुपर्ण, यम, मातरिश्वा नाम से पुकारते हैं। उस एक ईश्वर को ही अनेक नामों से कहते हैं।

इनसे प्रगट होता है कि देवताओं का प्रथक् प्रथक् अस्तित्व नहीं है, ईश्वर का उसका गुणों के अनुसार देव वाची नामकरण किया है। जैसे-अग्नि-तेजस्वी। प्रजापति-प्रजा का पालन करने वाला। इन्द्र-ऐश्वर्यवान! ब्रह्मा-बनाने वाला। विष्णु-व्यापक। रुद्र-भयंकर। शिव-कल्याण करने वाला। मातरिश्वा-अत्यन्त बलवान। वायु-गतिवान। आदित्य-अविनाशी। मित्र-मित्रता रखने वाला। वरुण-ग्रहण करने योग्य। अर्यमा-न्यायवान्। सविता-उत्पादक। कुबेर-व्यापक। वसु-सब में वसने वाला। चन्द्र-आनन्द देने वाला मंगल-कल्याणकारी। बुध-ज्ञानस्वरूप। बृहस्पति-समस्त ब्रह्मांडों का स्वामी। शुक्र-पवित्र। शनिश्चर-सहज में प्राप्त होने वाला। राहु-निर्लिप्त। केतु-निर्दोष। निरंजन-कामना रहित। गणेश-प्रजा का स्वामी। धर्मराज-धर्म का स्वामी। यम-फलदाता। काल-समय रूप। शेष-उत्पत्ति और प्रलय से बचा हुआ। शंकर-कल्याण करने वाला। इसी प्रकार अन्य देवों के नामों का अर्थ ढूंढ़ा जाय तो वह परमात्मा का ही बोध कराता है।

अब यह प्रश्न उठता है कि इन देवताओं की विविध प्रकार की आकृतियाँ क्यों हैं? आकृतियों की आवश्यकता किसी बात की कल्पना करने या स्मरण रखने के लिये आवश्यक है। किसी बात का विचार या ध्यान करने के लिये मस्तिष्क में एक आकृति अवश्य ही बनानी पड़ती है। यदि कोई मस्तिष्क इस प्रकार के मानसिक रोग से ग्रस्त हो कि मन में आकृतियों का चिन्तन न कर सके तो निश्चय ही वह किसी प्रकार का विचार भी न कर सकेगा। जो कीड़े मकोड़े आकृतियों की कल्पना नहीं कर पाते उनके मन में किसी प्रकार के भाव भी उत्पन्न नहीं होते। ईश्वर एवं उसकी शक्तियों के सम्बन्ध में विचार करने के लिये मनः लोक में स्वतः किसी न किसी प्रकार की आकृति उत्पन्न होती है। इन अदृश्य कारणों से उत्पन्न होने वाली सूक्ष्म आकृतियों का दिव्य दृष्टि से अवलोकन करने वाले योगी जनों ने उन ईश्वरीय शक्तियों की-देवी देवताओं की-आकृतियाँ निर्मित हैं।

चीन और जापान देश की भाषा लिपि में जो अक्षर हैं वे पेड़, पशु, पक्षी आदि की आकृति के आधार पर बनाये गये हैं। उन भाषाओं के निर्माताओं का आधार यह था कि जिस वस्तु को पुकारने के लिये जो शब्द प्रयोग होता था, उस शब्द को उस वस्तु की आकृति का बना दिया। इस प्रणाली में धीरे धीरे विकास करके एक व्यवस्थित लिपि बनाली गई। देवनागरी लिपि का अक्षर विज्ञान शब्द की सूक्ष्म आकृतियों पर निर्भर है। किसी शब्द का उच्चारण होते ही आकाश में एक आकृति बनती है, इस आकृति को दिव्य दृष्टि से देख कर योगी जनों ने देवनागरी लिपि का निर्माण किता है। शरीर के मर्मस्थलों में जो

सूक्ष्म ग्रन्थियाँ हैं उनके भीतरी रूप को देख कर षट्चक्रोंका सिद्धान्त निर्धारित किया गया है। जो आधार चीनी भाषा की लिपि का है, जो आधार देवनागरी लिपि के अक्षरों का है, जो आधार षट्-चक्रों की आकृति का है, उस आधार पर ही देवताओं की आकृतियाँ प्रस्तुत की गई हैं। जिन ईश्वरीय शक्तियों के स्पर्शसे मनुष्यके अन्तःकरणमें जैसे संवेदन उत्पन्न होते हैं, सूक्ष्म शरीर की जैसी मुद्रा बनती है, उसी के आधार पर देवताओं की आकृतियाँ बनादी गई हैं।

संहार पतन एवं नाश होते देख कर मनुष्य के मन में वैराग्य का भाव उत्पन्न होता है इसलिये शंकरजीका रूप वैरागी जैसा है। किसी चीज का उत्पादन होने पर वयोवृद्धों के समान हर मनुष्य अपना उत्तर दायित्व समझने लगता है, इसलिये ब्रह्मा जी वृद्ध के रूप में हैं। चार वेद या चार दिशायें ब्रह्मा जी के चार मुख हैं। पूर्णता प्रौढ़ता की अवस्था में मनुष्य रूपवान, सशक्त, सपत्नीक एवं विलास प्रिय होता है, सहस्त्रों सर्प सी विपरीत परिस्थितियां भी उस प्रौढ़ के अनुकूल बन जाती है। शेष शय्या शायी विष्णु के चित्र में हम इसी भाव की झांकी देखते हैं। लक्ष्मी बड़ी सुन्दर और कमनीय लगती हैं उनका रूप वैसा ही है। ज्ञान में बुद्धि में सौम्यता एवं पवित्रता है, सरस्वती की मूर्ति को हम वैसी ही देखते हैं। क्रोध आने पर हमारी अन्तरात्मा विकराल रूप धारण करती है, उस विकरालता की आकृति ही दुर्गा है। विषय वासनाओं को मधुर मधुर अग्नि सुलगाने वाला देवता पुष्प बाणधारी कामदेव है। ज्ञान का देवता गणेश हाथी के समान गंभीर है, उसका पेट ओछा नहीं जिसमें कोई बात ठहरे नहीं, उसके बड़े पेट में अनेकों बातें पड़ी रहती हैं और बिना उचित अवसर आये प्रकट नहीं होती। "जिसके पास अक्ल होगी वह लड्डू खायगा" इस कहावत को हम गणेश जी के साथ चरितार्थ होता देखते हैं। उनकी नाक लम्बी है अर्थात् [illegible]

दिव्य दर्शी कवि ने गणेश के रूप में चित्रित कर दिया है। इसी प्रकार अनेकों देवों की आकृतियां विभिन्न कारणों से निर्मित की गई हैं।

तेतीस कोटि के देवता माने जाँय तो अनेकों क्षेत्र में काम करने वाली शक्तियां तेतीस हो सकती हैं। शारीरिक, मानसिक, आत्मिक, धार्मिक, आर्थिक, पारिवारिक, वैज्ञानिक भौगोलिक आदि क्षेत्रों की श्रेणियों की गणना की जाय तो उनकी संख्या तेतीस से कम न होगी उन कोटियों में परमात्मा की विविधि शक्तियां काम करती हैं वे देव ही तो हैं। दूसरी बात यह है कि जिस समय देवतावाद का सिद्धान्त प्रयुक्त हुआ उस समय भारतवर्ष की जन संख्या ३३ कोटि-तेतीस करोड़ थी। इस पुण्य भारत भूमि पर निवास करने वाले सभी लोगों के आचरण और विचार देवोपम थे। संसार भर में वे भू सुर (पृथ्वी के देवता) कह कर पुकारे जाते थे। तीसरी बात यह है कि हर मनुष्य के अन्तःकरण में रहने वाला देवता अपने ढंग का आप ही होता है। जैसे किन्हीं दो व्यक्तियों की शकल सूरत आपस में पूर्ण रूप से नहीं मिलती वैसे ही सब मनुष्यों के अन्तःकरण भी एक से नहीं होते उनमें कुछ न कुछ अन्तर रहता ही है। इस भेद के कारण हर मनुष्य का विचार विश्वास, श्रद्धा, निष्ठा के द्वारा बना हुआ अन्तःकरण रूपी देवता प्रथक् २ हैं। इस प्रकार तेतीस कोटि मनुष्यों के देवता भी तेतीस कोटि ही होते हैं।

देवताओं की आकृतियां चित्रों के रूप में और मूर्तियों के रूप में हम देखते हैं। कागज पर अंकित किये गये चित्र अस्थायी होते हैं। पर पाषाण एवं धातुओं की मूर्तियां चिरस्थायी होती हैं। साधना विज्ञान के आचार्यों का अभिमत है कि ईश्वर की जिस शक्ति को अपने में अभिप्रेत करना हो उसका विचार, चिन्तन, ध्यान और धारण करना चाहिये। विचार शक्ति का चुम्बकत्व ही मनुष्य के पास एक ऐसा अस्त्र है जो अदृश्य लोक की सूक्ष्म शक्तियों [illegible]

के लिये धन का चिन्तन और विद्वान बनने के लिये विद्या का चिन्तन आवश्यक है। संसार का जो भी मनुष्य जिस विषय में आगे बढ़ा है, पारंगत हुआ है, उसमें उसने एकाग्रता और आस्था उत्पन्न की है। इसका एक आध्यात्मिक उपाय यह है कि ईश्वर की उस शक्ति का चिन्तन किया जाय। चिन्तन के लिये आकृति की आवश्यकता है उस आकृति की मूर्ति या चित्र के आधार पर हमारी कल्पना आसानी से ग्रहण कर सकती है। इस साधन की सुविधा के लिये मूर्तियों का आविर्भाव हुआ है।

धनवान बनने के लिये सब से पहले धन के प्रति प्रगाढ़ प्रेम भाव होना चाहिये। बिना इसके धन कमाने की योजना अधूरी और असफल रहेगी। क्यों कि पूरी दिलचस्पी और रुचि के बिना कोई कार्य पूरी सफलता तक नहीं पहुंच सकता। धन के प्रति प्रगाढ़ प्रेम, विश्वास आशा पाने के लिये आध्यात्मिक शास्त्र के अनुसार मार्ग यह है कि ईश्वर की धन शक्ति को-लक्ष्मी जी को-अपने मानस लोक में प्रमुख स्थान दिया जाय। चूंकि ईश्वर की धन शक्ति का रूप दिव्यदर्शियों ने लक्ष्मी जी जैसा निर्धारित किया है अतएव लक्ष्मी जी की आकृति गुण कर्म स्वभाव युक्त उनकी छाया मन में धारण की जाती है। इस ध्यान साधना में मूर्ति बड़ी सहायक होती है। लक्ष्मी जी की मूर्ति की उपासना करने से मानस लोक में धन के भाव उत्पन्न होते हैं और वे भाव ही अभीष्ट सफलता तक ले पहुंचते हैं। इस प्रकार लक्ष्मी जी की उपासना से श्री वृद्धि होने में सहायता मिलती है। यही बात गणेश, शिव, विष्णु, हनुमान, दुर्गा आदि देवताओं के संबन्ध में है।

इष्ट देव चुनने का उद्देश्य भी यही है। जीवन लक्ष नियुक्त करने को ही आध्यात्मिक भाषा में इष्ट देव चुनना कहा जाता है। अखाड़ों में, व्यायाम शालाओं में, हनुमान जी की मूर्तियां [illegible] करते हैं। साधु सन्यासी शिवजी का इष्ट रखते हैं। ग्रहस्थ लोग, विष्णु (राम, कृष्ण आदि अवतार) को भजते हैं। शक्ति के इच्छुक दुर्गा को पूजते हैं। स्थूल दृष्टि से देखने में यह देवता अनेकों मालूम पड़ते हैं, उपासकों की साधना में अन्तर दिखाई देता है पर वास्तव में कोई अन्तर है नहीं। मान लीजिये माता के कई बालक हैं एक बालक रोटी खाने के लिये रसोई घर में बैठा है, दूसरा धुले कपड़ों की मांग करता हुआ कपड़ों के बक्स के पास खड़ा है, तीसरा पैसे लेने के लिए माता का बटुआ टटोल रहा है, चौथा गोदी में चढ़ने के लिये मचल रहा है। बालकों की आकांक्षाएं भिन्न हैं वे माता के उसी गुण पर सारा ध्यान लगाये बैठे हैं जिसकी उन्हें आवश्यकता है। गोदी के लिये मचलने वाले बालक के लिये माता एक मुलायम पालना, या बढ़िया घोड़ा है। पैसे चाहने वाले बालक के लिए वह एक चलती फिरती बैंक है, भोजन के इच्छुक के लिये वह एक हलवाई है, कपड़े चाहने वाले के लिये वह घरेलू दर्जी या धोबी है। चारों बालक अपनी इच्छा के अनुसार माता को प्रथक २ दृष्टि से देखते हैं, उससे प्रथक २ आशा करते हैं फिर भी माता एक ही है। यही बात विभिन्न देव पूजकों के बारे में कही जा सकती है। वस्तुतः इस विश्व में एक ही सत्ता है-परमात्मा एक ही है। उसके अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं, तो भी मनुष्य अपने विचार एवं साधना की दृष्टि से उसकी शक्तियों को प्रथक २ देवताओं के रूप में मान लेता है।

श्रीमद् भाग्वद्गीता के अध्याय ९ श्लोक २३ में इस बात को बिलकुल स्पष्ट कर दिया गया है-

येऽप्यन्य देवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधि पूर्वकम्॥

अर्थात्-हे अर्जुन, जो भक्त अन्य देवताओं को श्रद्धा पूर्वक पूजते हैं, वे भी अविधि पूर्वक मुझे ही पूजते हैं।

गीता अध्याय ११ श्लोक २९ में अर्जुन [illegible]

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्क प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च । नमो नमस्तेऽस्तु सहस्त्र कृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥

अर्थात्—वायु, यम, अग्नि, वरुण, शशि, प्रजापति, आदि आप ही हैं आपको बार बार नमस्कार है।

जैसे सब नदियों का जल समुद्र में जाता है वैसे ही सब देवों को किया हुआ नमस्कार केशव के लिए ही जाता है—'सर्व देव नमस्कारं केशवं प्रति गच्छति।'

इन सब बातों पर विचार करने के उपरान्त हमें इस निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ता है कि वस्तुतः निखिल विश्व ब्रह्माण्ड का एक ही देव परमात्मा है। विभिन्न देवता उसी की शक्तियों के विभिन्न नाम हैं। इन देवताओं का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है।

देवताओं की मूर्तियाँ परमात्मा की उन शक्तियों का स्मरण दिलाने के लिये हैं। कागज पर लिखे हुए अक्षर स्वतः कोई वस्तु नहीं है पर उन अक्षरों को पढ़ने से वस्तुओं का स्वरूप सामने आ जाता है। जैसे 'हाथी' यह दो अक्षर जहां लिखे हैं उस स्थान पर कोई पशु अवस्थित भले ही न हो पर इन दो अक्षरों को पढ़ते ही उस विशालकाय हाथी का चित्र मस्तिष्क में दौड़ जाता है। भक्ति रस के भजन पढ़ने से मनुष्य का हृदय भक्ति-भाव में सराबोर हो जाता है और घासलेटी पुस्तकें पढ़ने से विषय वासना, व्यभिचार आदि के दूषित भाव मन म घुड़दौड़ मचाने लगते हैं। अक्षर एक प्रकार के चित्र हैं, उन चित्रों से मन में कोई आकृतियां आती हैं और फिर उन आकृतियों से संबंधित भाव कुभाव मन में उत्पन्न होते हैं, महापुरुषों के चित्रों एवं मूर्तियों को यदि हम आदर पूर्वक श्रद्धांजलि चढ़ावें तो स्वभावतः उनके गुणों की प्रभाव छाया मनः पटल पर अंकित होती है। मूर्तियां एक प्रकार की पुस्तकें हैं वे अपने संबंधित विषय की भावनायें दर्शक के मन में उत्पन्न करती हैं। मूर्ति पूजा का यही तात्पर्य है।

मन्दिरों की स्थापना, उनमें भोग प्रसाद, भेंट, दक्षिणा चढ़ाना, क्यों होता है इसके संबंध में हम अपनी 'ईश्वर कौन है? कहां है? कैसा है?' पुस्तक में सविस्तार लिख चुके हैं। मन्दिरों का प्रारम्भ एक धर्म संस्था के रूप में हुआ था, मन्दिर के साथ साथ पाठशाला, पुस्तकालय, औषधालय, व्यायामशाला, संगीतशाला, प्रार्थना भवन, उपदेश मंच आदि अनेकों सार्वजनिक प्रवृत्तियां जुड़ी रहती थीं। उन प्रवृत्तियों का संचालन करने के लिये एक निस्पृह, त्यागी, विद्वान, परोपकारी ब्राह्मण रहता था जिसे गुरु पुरोहित, आचार्य या पुजारी कहते थे। उस पुरोहित के जीवन निर्वाह के लिये एवं मन्दिर से सम्बन्धित प्रवृत्तियों के आयोजन के लिये जनता स्वेच्छा पूर्वक धर्म भाव से दान करती थी, यह दान मन्दिरों में देव मूर्तियों के सम्मुख भोग, प्रसाद, भेंट, दक्षिणा आदि के रूप में चढ़ाया जाता था। उस धन से मन्दिर रूपी सार्वजनिक संस्था चलती थी और जनता को उस भेंट पूजा की अपेक्षा अनेक गुना लाभ पहुंचाती थी।

आज समय के प्रभाव, अज्ञान एवं अन्धश्रद्धा के कारण देववाद में भारी दोष आ गये हैं। देवता के सामने निरीह पशुओं का बलिदान, मन्दिर के चढ़ावे का लोक सेवा में व्यय न होना, मन्दिर से संबंधित सार्वजनिक प्रवृत्तियों का न होना, देवताओं को घूंसखोर, जालिम, एवं पक्षपाती हाकिमों की तरह समझना, देवताओं की कृपा से बिना प्रयत्न के सम्पदायें मिलने की आशा करना, उनमें अलौकिक चमत्कारों का मानना, मन्दिरों का व्यक्तिगत तुच्छ स्वार्थों के लिये उपयोग होना आदि अनेकों दोष आज 'देवतावाद, के साथ जुड़ गये हैं, इनका संशोधन और निराकरण होना आवश्यक है। इन दोषों के कारण जनता को हानि होती है, और इस पवित्र एवं महत्व पूर्ण तथ्य को कलंकित होना पड़ता है।

हिन्दू धर्म देवताओं की पूजा करना स्वीकार करता है। 'देव' का अर्थ है—देने वाला। लेव का अर्थ है—लेने वाला। देव वे हैं जो परोपकारी, लोक सेवी, सदाचारी, सत्यनिष्ठ, विद्वान एवं सद्गुणों से परिपूर्ण हैं। ऐसे देवताओं की पूजा, प्रतिष्ठा, प्रशंसा, अर्थ व्यवस्था करना सर्व साधारण का पुनीत कर्तव्य है। उनका आदर्श हमें तथा हमारी भावी पीढ़ी को प्रकाश देता रहे इसलिये देवताओं के स्मारक स्थापित करना उचित एवं आवश्यक हैं।

परमात्मा की महा महिमा को हमारी मनोभूमि में भरने वाली उसकी महा शक्तियां यदि चित्र रूप में, मूर्ति रूप में, अक्षर रूप में, विचार या बिश्वास रूप में हमारे सामने उपस्थित रहें तो उससे लाभ की ही आशा है। हमारा देवतावाद मिथ्या भ्रमों, अन्ध विश्वासों एवं निर्मूल कल्पनाओं के ऊपर अवलम्बित नहीं है वरन् मनोविज्ञान, अध्यात्म विज्ञान एवं सूक्ष्म शक्तियों के विज्ञान द्वारा अनुमोदित है। हमें देवत्व पर विश्वास करना चाहिये और उसकी उपासना भी।

जैसे असावधानी के साथ पकड़ा हुआ कुश हाथ को काट देता है वैसे ही अज्ञानी का लिया हुआ सन्यास उसे क्लेश के गर्त में डुबा देता है।

\+ \+ \+

जब तक पाप फल का परिपाक नहीं होता तब तक वह उसे मधु सा मधुर लगता है, पर जब पाप का फल सामने आता है तो उसके कष्ट की सीमा नहीं रहती।

\+ \+ \+

न तो अपने लाभ की उपेक्षा करो और न दूसरे के लाभ में विघ्न डालो।

\+ \+ \+

जैसे धींवर आंकड़ा डालकर मछली मारता है वैसे ही पाप, मनुष्य को लोभ के फन्दे में डाल कर मारता है।

\+ \+ \+

बीमारी एक अपराध है।

(श्री स्वामी सत्यभक्त)

बीमारी होना शर्म की बात है क्यों कि इससे अपने असंयम का, लापरवाही और कमज़ोरी का परिचय मिलता है, और ये तीनों ही बातें बुरी हैं अभी अभी "हरिजन सेवक" में एक लेख पढ़ा, जिसमें मि० बटलर की एक किताब का जिक्र था जिसमें अपने ढंग से नये संसार का चित्रण किया गया था। उसमें निर्देश है कि मरीज़ों को जेलखानों में और अपराधियों को दवाखानों में रक्खा जाता है। बीमार होना एक काफ़ी बड़ा अपराध माना गया है।

अभी २ बंगाल में गांधीजी के साथी इधर उधर केन्द्र बनाकर बैठे हैं। उनमें से जो बीमार पड़ता है, उन्हें सहायता मिलने के बदले गाँधीजी की तरफ़ से फटकार मिलती है। वे प्रायः लिखा करते हैं—"जो बीमार पड़ें, या तो वहीं रह कर अच्छे हो जाँय या वहीं मौत का ख़तरा उठालें।" अर्थ यह कि हम सब घरेलू या कुदरती इलाज से संतुष्ट रहें अर्थात् हवा, जल, मिट्टी इत्यादि पांच महाभूतों की सहायता से अपना काम चलावें।

बीमारी एक अपराध है, तथा आने पर हमें प्राकृतिक तरीके से उसका इलाज करना चाहिये। हज़ार में एकाध अपवाद ऐसे मिलेंगे जिनमें डाक्टरी चिकित्सा की ज़रूरत पड़ेगी या वायुमंडल आदि के कृत्रिमरूप में विषैला होने पर कोई विशेष बीमारी फैल जाय और विशेष इलाज करना पड़ें, यह दूसरी बात है, परन्तु साधारण बीमारियां असंयम और लापरवाही से पैदा होती हैं और प्राकृतिक चिकित्सा से दूर हो जाती हैं।

छै वर्ष पहले जब मैं लम्बा बीमार पड़ा था, तब तेरह दिन तक भोजन बन्द रक्खा और ग... पानी तथा मौसमी नींबू का रस लिया और बि... चिकित्सा के अच्छा होगया। अभी गतमाह ... मैं बीमार पड़ा तो लंघनों से अच्छा हुआ।

हमें फुरसत नहीं ?

स्वाध्याय के लिए, आत्म चिन्तन के लिए, साधना के लिए अक्सर लोग यह कहा करते हैं कि "क्या करें, फुरसत नहीं मिलती।" वे अपने को बहुत कार्य व्यस्त बताते हैं। जरूरी कामों से फुरसत पाये बिना भला आध्यात्मिक कामों के लिए इन्हें किस प्रकार समय मिल सकता है।

विचार करना चाहिए कि-क्या वास्तव में उन्हें फुरसत नहीं मिलती ? क्या वास्तव में वे इतने कार्य व्यस्त होते हैं कि आत्म निर्माण के लिए जरा भी समय न निकाल सकें ? जिन कामों को वे जरूरी समझते हैं क्या वे वास्तव में इतने जरूरी होते हैं कि उनसे थोड़ा भी समय कम न किया जासके ? हम देखते हैं कि अपने को बहुत ही व्यस्त समझने वाले व्यक्ति भी नित्य काफी समय, गप, शप में, मनोरंजन में, मटर गस्ती में, तथा आलस्य में व्यतीत करते हैं। उनके कार्यों का बहुत सा भाग ऐसा होता है जो उतना आवश्यक नहीं होता। फिर भी वे अपनी रुचि एवं दृष्टि के अनुसार उसे जरूरी समझते हैं।

असल बात यह है-फुरसत न मिलना एक बहाना है। फुरसत न मिलने का असली मतलब है-'दिलचस्पी न होना।' जिस काम में आदमी को दिलचस्पी नहीं होती, जो उतना आवश्यक, महत्व पूर्ण, लाभ दायक एवं रुचिकर प्रतीत नहीं होता, उसके लिए कह दिया जाता है कि इस काम के लिए हमें फुरसत नहीं है।

अपना सगा बेटा बीमार पड़ जावे तो तिजारत के सारे कामों को एक तरफ हटा कर पिता, अपने बेटे की चिकित्सा में लग जाता है। विवाह शादी के दिनों में सोने के लिए पूरा समय नहीं मिलता। विश्राम के घंटों का कार्यक्रम घटाकर उस समय को शादी संबंधी कामों में लगाता है। सिनेमा, नाटक, स्वांग, तमाशे देखने में लोग रातें बितादेते हैं। इन सब कार्यों के लिए फुरसत मिल जाती है पर कथा कीर्तन के लिए समय नहीं मिलता। दैनिक कार्यक्रम को बारीकी से देखा जाय तो हर आदमी के पास थोड़ा बहुत समय फालतू अवश्य मिलेगा। वह चाहे तो आसानी से थोड़ा समय आत्म साधना के लिए निकाल सकता है।

प्रश्न रुचि का है। विचार करना चाहिए कि क्या आत्म साधना ऐसी निरर्थक चीज है जिसके लिए दुनियादारी के साधारण काम काजों में से बचाकर समय का एक टुकड़ा भी न फेंका जा सके ? घर में कुत्ते और भिखारी को थोड़ा बहुत भोजन दिया जाता है सोचना चाहिए कि आत्मा का महत्व क्या कुत्ते और भिखारी से भी कम है जिसकी झोली में समय का एक छोटा सा टुकड़ा भी न डाला जासके ? शरीर की भूख बुझाने के लिए हम तरह तरह के बढ़िया बढ़िया साधन जुटाते हैं, काफी समय खर्च करके भोजन सामिग्री कमाते हैं, पर आत्मा की भूख बुझाने के लिए-स्वाध्याय, चिन्तन, मनन तथा साधन के लिए-थोड़ा भी समय नहीं लगाया जासकता ? क्या सचमुच आत्मा ऐसी तुच्छ वस्तु है, जिसकी शरीर के मुकाविले में इतनी उपेक्षा की जाय ?

यह विचारणीय प्रश्न है। इसे इसी प्रकार अधर लटका रहने देने से काम न चलेगा। हमें सोचना होगा कि-क्या हम शरीर मात्र हैं ? क्या हमारी प्राप्ति धनसंचय एवं इन्द्रिय भोगों से ही होसकती है ? क्या मानव जीवन का उपयोग शरीर पोषण और धन उपार्जन मात्र है ? क्या सांसारिक उन्नति ही पूर्ण उन्नति है ? इन प्रश्नों पर विचार करने से पता चलेगा कि जो कुछ हम कर रहे हैं, वह ही पूर्ण नहीं है। आत्मोन्नति भी एक कार्य है और वह कार्य शरीर पोषण से कम महत्व का नहीं है।

आत्मा की महत्ता पर विचार कीजिए आत्मोन्नति के महत्व को समझिए और तब निर्णय कीजिए कि आपको फुरसत है या नहीं ?

दुःख छूटने का उपाय

[श्री धर्मपालसिंह S. B. A. हरदुआगंज]

महाभारत युद्ध की समाप्ति के पश्चात जब श्री कृष्णचन्द्र द्वारिका के लिए विदा होने लगे, उनको जाते देख महारानी कुन्ती उनका रथ रोक कर खड़ी होगई ! बोली कृष्ण ! अब आप यहाँ से न जाइये। भगवान ने उत्तर दिया-देवी अब यहां पर पूर्णरूप से शान्ति स्थापित होगई है, राज्य सम्पत्ति आप को प्राप्त होगई है अब इसको सुख पूर्वक भोगिये। कुन्ती बोली, भगवन ! इस राज्य के बदले मुझे वही वन और विपत्ति चाहिये जिनमें सदैव तुम्हारा दर्शन होता था। इस राज्य सम्पत्ति के आगमन पर ही तो आज आप का वियोग हो रहा है।

तात्पर्य यह है कि सांसारिक सुख सम्पत्ति के मद में मदान्ध होकर प्राणी ईश्वर को भूल जाता है। अतएव धन्य हैं वे विवेकशील व्यक्ति जो आए हुए दुःख का प्रसन्नता से स्वागत करते हैं। जिनको कभी दुःख झेलने का अवसर नहीं मिला, अथवा जो दुःखों से भयभीत हो सदा डरते रहते हैं, वे संसार में बड़े अभागी रूप हैं। परन्तु यह विषयान्ध संसार उन पुण्यात्मा लोगों को जिन पर दुःख विपत्ति आते हैं उल्टा मन्द भागी कहा करते हैं। परन्तु इस सत्य को न भूलना चाहिये कि दुख रूप भट्टी में तप कर ही स्वर्णिम जीवन खरे, चमकते हुए आदर्श जीवन बनते हैं, यथा सत्य हरिश्चन्द्र, भगवान राम कृष्ण, महाराणा प्रताप, शिवाजी भक्तिमती मीराबाई गुरुगोविन्दसिंह महात्मा ईसा आदि अनेक महापुरुष प्रसन्नता से दुःखों का स्वागत करके ही सदैव के लिए अमर होगये हैं। यहां तक कहा जाय जीवन के अन्तिम लक्ष साक्षात् [illegible], भगवत दर्शन की यह दुःख ही प्रथम झांकी है, स्वार्थ रहित अकारण कृपाल, मङ्गलमयदेव की यह दुःख ही अहेतु की कृपा है जिस के आते ही बरबस मन की सब चंचल वृत्ति एकाग्र होकर उनके [illegible] चरणों में लग जाती है उस समय से ही जीव का कल्याण होने लगता है।

दुख की निवृत्ति कैसे हो ? यह जानने से पूर्व हमें दुःख का स्वरूप जानना अति आवश्यक है। एक मात्र सुख और आनन्द के केन्द्र श्री परमात्म देव को भूल कर अज्ञान और उसकी की सन्तान मोह, तृष्णा और विषयासक्ति आदि मन के रोगों में उलझना दुःख का कारण है। रामायण में कहा है :- "मोह सकल व्याधिन कर मूला—।" शरीर, धन, स्त्री, पुरुष, परिवार कीर्ति इनकी ममता में पड़ कर मनुष्य विविध प्रकार कामनाएं किया करते हैं। शान्त चित्तमें जब किसी वस्तु की प्राप्ती की तृष्णा जागती है। तब शान्त चित्त में एक प्रकार की हल चल पैदा हो जाती है। और जब तक इच्छित वस्तु की प्राप्ति का कोई समुचित साधन दिखाई नहीं दे जाता तब तक यह हलचल हिलोर बढ़ती ही रहती है बस यह शान्त चित्त की हल चल ही अशान्ति और निरन्तरता दुःख का स्वरूप है। ज्यों ही कार्य सिद्धि से तृष्णा दूर हुई तो पुनः चित्त अपनी शान्तावस्था में आजाता है। और सुख अनुभव होने लगता है। पर कुछ काल पश्चात ही दूसरी तृष्णा के जागने पर फिर वही हल चल, अशान्ति और दुःख आ विराजता है। यही इस अनित्य, अस्थिर सांसारिक सुख दुख का स्वरूप है।

यदि इच्छाओं का सर्वथा अभाव हो जाय और मन से सांसारिक विषयों की चाह न रहे तो नित्य सुख के दर्शन सम्भव हो सकते हैं। परन्तु जब तक यह शरीर है तब तक इसको रखने के लिए इसके सुख के साधन, स्त्री, पुत्र, परिवार धन कीर्ति आदि का होना भी एक अनिवार्य वस्तु है। यह हो सकता है कोई कम से कम इनको उपयोग में लावे।

इस लिए इन सब वस्तुओं को विविध प्रकार से उन्नत और समृद्ध देखने की आकांक्षा और प्रयत्न करना भी श्री भगवान के इस संसार रूपी नाट्यशाला की लीला को निरन्तर रखने के लि

अर्थात् लोक संग्रह के लिए, उत्तोमत्तम योग्य पात्रों का तैयार करना भी प्रत्येक संसारिक का परम कर्त्तव्य है। इसलिए कामनाएं भी अनिवार्य हैं। पर इन कामनाओं में होकर जाते हुए इन कामनाओं से पार जाने उपाय शास्त्रों और महात्माओं द्वारा भिन्न प्रकार से कहे हैं। रामायण में महात्मा तुलसीदासजी अपनी एक एक चौपाई में इस रहस्य को इस प्रकार कहते है। "धर्म ते वरति योगते ज्ञाना। ज्ञान मोक्ष प्रद वेद बखाना" ॥ मनुष्य को चाहिये कि वह प्रथम वेद शास्त्र प्रतिपादित वर्णाश्रम धर्म के अनुकूल आचरण करे यथाः- नित्य भगवान का भजन, यज्ञ, दान, तप, स्वाध्याय सत्यसङ्ग, विद्वान् महात्माओं की सेवा, न्याय पूर्वक जीवका का उपार्जन, सत्य भाषण, उच्च विचार, परहित कार्य, मृदुल स्वभाव, दया आदि शुभगुणों और सत्कार्यों को जीवन में नित्य क्रियात्मक रूप में यथा साध्य उतारें, उसके ऐसे निरन्तर आचरण से श्री परमात्मदेव प्रसन्न होंगे और उन की कृपा द्वारा अंतःकरण शुद्ध होगा, ज्यों २ अंतःकरण शुद्ध होगा उसमें प्रभु की भक्ति भागीरथी का उदय होगा विषयों से स्वभाविक घृणा उत्पन्न होगी फिर कामनाएं कहाँ? यथा-

रमा विलास राम अनुरागी।
तजत वमन इव नर वड़भागी॥

\+ + +

अध भरे घड़े छलकते हैं, पर पूरे भरे हुए घड़े शान्त रहते हैं। इसी प्रकार छिछोरे बहुत बकबास करते हैं पर गंभीर पुरुष सार गर्भित बोलते हैं।

\+ + +

कृपण का धन उस रुके हुए तालाब के समान है जो किसी के काम नहीं आता और निरर्थक पड़ा पड़ा सूख जाता है।

\+ + +

घर त्यागने और वेष धारण करने से कोई साधु नहीं होता। साधु वह है जिसके विचार और व्यवहार साधुता पूर्ण हैं।

सत्संगी की परीक्षा

[श्री पथिकजी]

सत्संग-प्रेमी सज्जन व्यवहार शुद्धि के लिये निरन्तर विवेकपूर्वक सावधान रहते हैं। सतोगुणी प्रकृति दृढ़ रहनेके लिये दूषित संग और तमोगुणी व रजोगुणी आहार नहीं करते हैं। अशुद्ध विचारों का निरन्तर सजग रह कर विरोध एवं परित्याग करते हुए शुद्ध सात्विक विचारों को ही अपने मन व मस्तिष्क में स्थान देते हैं।

सत्संगी सदा शान्त, प्रसन्नचित्त, उत्साही, गम्भीर और दुखों के बीच में सहन-शील और निर्भय रहता है।

सत्संगी को मोह नहीं होता, प्रेम होता है। मोही वह है जो अपना सुख चाहता है। प्रेमी वह है जो प्रेमास्पद को ही सुखी देखने के लिये सब कुछ करता है।

सत्संगी किसी सम्बन्धी की मृत्यु में रोता नहीं लेकिन किसी के दुःख में उसे बहुत दुख होता है और दुखी के दुख निवारण के लिये उसके सभी प्रयत्न या कर्म होते हैं।

सत्संगी में गरीबों व दुखियों की सेवा के लिये तन, मन, धन से तत्परता रहती है। रात, दिन, जाड़ा, गर्मी, वर्षा आदि द्वन्दों में भी सेवा के अवसरों में आलस्य या प्रमाद नहीं रहता। नीच जाति तथा पापीजनों से भी घृणा नहीं होती

सत्संगी किसी की निन्दा नहीं करता और निन्दा करने वालों से बहुत बचता है, लेकिन अपनी निन्दा तथा अपने निन्दकों से विरोध या द्वेष नही करता। क्योंकि अपनी निन्दा से सत्संगी की बहुत उन्नति होती है, कई सद्गुणों का अभ्यास दृढ़ होता है, विनम्रता, सहनशीलता और निरभिमान आदि सद्भाव पुष्ट होते हैं।

सत्संगी अपनी सेवा नहीं कराता वरन् सेवा करता है। कभी कभी दूसरों की प्रसन्नता के लिये, भाव विकास के लिये ही दूसरों को भी अपने प्रति सेवा का अवसर दे देता है।

मैत्री-भावना से मुक्ति

(श्री० दौलतराम कटरहा बी० ए० दमोह)

विचारों की शक्ति के संबंध में हमें जो कुछ भी थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त हुआ है उससे हम आज दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि विश्व के साथ मैत्री भाव रखने से न केवल विश्व में सुन्दर विचार तरंगें ही फैलती हैं जिससे कि विश्व का वातावरण न्यूनाधिक मात्रा में शुद्ध एवं परिष्कृत हो जाता है बल्कि साथ साथ व्यक्तिगत दृष्टि से मैत्री-भाव रखने वाले मुमुक्षु को महान लाभ होता ही है . साधक सब प्राणियों का सुहृद् बन जाने के कारण अजातरिपु हो जाता है, वह विश्व की ओर से निर्भय हो जाता है तथा उसे अनेकों झंझटें परेशान नहीं करतीं और न दुश्चिन्ताएं ही उसे मानसिक पीड़ा पहुंचाती हैं।

शत्रुत्व-भाव का पोषण करने के कारण सांसारिक जीव जिन कठिनाइयों में उलझे हुए रहते हैं वह उनसे बिलकुल बच निकलता है किंतु मैत्री-भावना से उसे केवल यही अभावात्मक लाभ नहीं होता। उसके तो आह्लाद में भी वृद्धि होने से उसके चित्त की अवस्था समुन्नत हो जाती है। यदि कहीं उसकी मैत्री भावना और भी अधिक प्रबल हुई तो वह केवल मानसिक क्षेत्र तक ही सीमित न रहेगी बल्कि वह व्यक्ति उसकी प्रेरणा से आगे चलकर समस्त प्राणियों के हित-साधन में निरत हो जावेगा और "वसुधैव कुटुम्बकम्" के आदर्श को अपने आचरण में उतारने का प्रयत्न करेगा और तब उसका क्षुद्र "स्व" महत् 'स्व' में विलीन हो जावेगा अर्थात् उसके क्षुद्र ममत्व और मोह के बंधन कट जावेंगे।

इसी महत् 'स्व' से एकाकार होने में तो क्रमिक विकास की परिसमाप्ति होती है अर्थात् यही उसकी परमावधि है। इसी तरह मैत्री-भावना आध्यात्मिक अवस्था की चरम सीमा तक पहुंचाने में समर्थ है। रस-स्निग्ध होकर हम जिस रस की प्राप्ति करते हैं वही तो परमात्मा का स्वरूप है। उपनिषद् का वचन है 'रसो वै सः', अतएव प्रत्येक मुमुक्षु का कर्त्तव्य है कि वह न केवल यह मंगलमय कामना करे कि 'सब सुखी हों, सब निरामय हों, सब श्रेय को देखें' बल्कि वह क्रियात्मक रूप से भी विश्व कल्याण में निरत हो जावे।

विश्व-हित में निरत हुए बिना, इन विचारों से हम अपना व्यक्तिगत कल्याण भले ही कर सकें, किंतु व्यक्तिगत हित-साधन तो जीवन का अपूर्ण आदर्श ही है। इस तरह तो हम अपने क्षुद्र ममत्व के दास ही बने रहेंगे और भले ही अनेकों साधनों द्वारा हमारे चित्त की अवस्था अत्यन्त उत्कृष्ट हो जावे किंतु फिर भी हम किसी देह-विशेष में ही अपने को सीमित समझेंगे और जब कि हम यह जानते हैं कि सीमा-बंधन भी तो आखिर एक बंधन ही है तब हमें यह ससीमता मुक्ति कैसे दिला सकेगी? मुक्ति तो उसी पुरुष की होती है जिसका व्यवहार इस तरह होता है मानो वह सब भूतों के अन्दर वर्तमान है और सब भूत उसके अन्दर वर्तमान हैं अर्थात् मुक्ति उसीको प्राप्त होती है जो समष्टि के लाभ में अपना व्यक्तिगत लाभ देखता है और अपने व्यक्तिगत समष्टि अविरोधी हित में समष्टि का हित जानता है।

यदि कोई व्यक्ति अपनी अन्तःशक्तियों को जाग्रत कर उनका प्रसार करता है तो समाज का अंग होने के कारण, उसकी उन्नति से समाज की स्थिति की ही उन्नति होती है। पुनश्च यह भी संभव है कि उसकी विकसित शक्तियों के प्रयोग द्वारा समाज की पहिले से भी अधिक एवं श्रेष्ठ सेवा हो सके। अतएव व्यक्ति के समष्टि अवि-रोधी हित में समष्टि का हित भी अनिवार्यरूप से संनिहित है। इसलिए हमारे लिए न केवल

लेने की आवश्यकता है । हमें न केवल स्वतः ही मुक्ति के पथ में अग्रसर होना पड़ेगा बल्कि दूसरों को भी इसी पथ पर अग्रसर होने के लिये प्रेरित करना पड़ेगा । तभी हमारे जीवन में पूर्णता आ सकेगी, तभी हम वास्तविक अर्थ में विश्व-मित्र हो सकेंगे और तभी हमारा सार्वभौम प्रेम फलदायक होगा । भगवान बुद्ध इस तत्व से पूर्णतया परिचित थे और इसीलिये उन्होंने यह इच्छा प्रकट की थी कि व्यक्तिगत मुक्ति तब तक न होगी जब तक कि विश्व का प्रत्येक जीव मुक्ति न हो जावेगा ।

मैत्री-भावना के प्रसार विस्तार या उन्नयन से न केवल व्यक्ति-विशेष की ही आध्यात्मिक प्रगति होती है बल्कि उसके शान्ति-पूर्ण विचारों से विश्व का वातावरण भी प्रभावित होता है और उस व्यक्ति की भी उन्नति होती है जिसके कि प्रति वह व्यक्ति अपने विचारों को संचालित करता है । इस तरह उस व्यक्ति के चारों ओर एक अच्छा वातावरण तैयार हो जाता है जिससे कि उस व्यक्ति के लिये विश्व से तादात्म्यता की प्राप्ति के लिये अनुकूल परिस्थितियाँ भी उपस्थित होने लगती हैं । किन्तु प्रेम-भाव से व्यवहार करने वाले साधक को भी अनेकों अवसरों पर शत्रुत्व का व्यवहार करने वाले लोगों से सामना करना पड़ता है जिससे कि उसकी प्रगति अबाध गति से नहीं हो पाती । ऐसे अवसरों पर साधक को धैर्य न खोना चाहिये और यह विश्वास रखना चाहिये कि जो लोग उससे आज शत्रुता का व्यवहार करते हैं, वे आगे चलकर अवश्य ही मित्रता का व्यवहार करने वाले बन जावेंगे । इस विश्वास के साथ साथ जब हम अपने विरोधियों के प्रति मैत्री-भावनाएं भी भेजते रहेंगे तो हमारी ये प्रेष्य भावनाएं उनके हृदयों में भी मैत्री भावनाओं को जाग्रत करना आरंभ कर देगी ।

जिस तरह घृणा-सूचक भावों के उत्तर में घृणा के प्रयोग से घृणा की ही वृद्धि होती है उसी होने से प्रेम-भाव की ही वृद्धि होती है । इस तरह उस व्यक्ति का वास्तविक आत्म-विकास होता है और तब वह हमारी तथा हमारे प्रेम-पथ की श्रेष्ठता में आत्म-विकास के कारण अनुभव करने लगता है । वह नत-मस्तक हो जाता है और फिर शत्रु से मित्र भी बन जाता है । किन्तु यह तब ही संभव है जब कि हम मनुष्य की आसुरी प्रकृति पर उसकी दैवी प्रकृति की अन्तिम विजय में विश्वास रखें । मैं समझता हूं कि भले ही कोई व्यक्ति ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास न रखे किंतु यदि वह इस तथ्य में विश्वास रखता है तो वह सच्चे अर्थ में आस्तिक है । जो यह विश्वास नहीं रखता उसका सदाचारी होना बड़ा कठिन प्रतीत होता है ।

यह विश्वास कि प्रत्येक व्यक्ति में जो अन्तर्द्वन्द्व होता रहता है उसमें अन्तिम विजय उसकी दैवी प्रकृति की ही होगी अर्थात् यह दृढ़ धारणा कि प्रत्येक व्यक्ति सत्यन्नोन्मुख है, हमें घृणा-हीन बनाए रखने के लिये अत्यावश्यक है । इसलिये यदि हम दूरदर्शिता खोकर किसी मनुष्य की वर्तमान परिस्थिति से ही उसके भले या बुरे होने की धारणा बनाने की भूल करेंगे और इस तरह उसे उसकी भावी उन्नत स्थिति के प्रकाश में भी देखना स्वीकार न करेंगे तो यह निश्चित ही है कि हम अवश्य ही धोखा खावेंगे अतएव यदि हम यथार्थवादी हैं तो हमें स्मरण रखना चाहिये कि आदर्शोन्मुख यथार्थवाद ही हमारी जीवन समस्याओं का एक मात्र हल है इसके अतिरिक्त इस तरह के विश्वास से हमको एक और प्रकार की भी सहायता प्राप्त होती रहती है । यदि यह विश्वास हमारे गले उतर गया है तो यह निश्चय है कि यह विश्वास '*V*' के समान ही हमें अन्तिम विजय की सदा याद दिलाता रहेगा और हमें उत्साह, स्फूर्ति, शक्ति और धैर्य प्रदान करता रहेगा । सात्विक कर्त्ता के लिये सत्य की अन्तिम विजय में विश्वास रखना परमावश्यक है क्योंकि बिना

कल्पना की अनन्त शक्ति !

(श्री० ठा० महिपालसिंहजी, निमदीपुर राज्य)

संसार में व्यौहारित अनेक शब्द ऐसे हैं जो गंभीर एवं महत्वपूर्ण प्रभाव रखने वाले हैं, परन्तु जनसाधारण में उनका व्यौहार अस्वाभाविक दशा में किया जाता है। उन अनेक शब्दों में से एक "कल्पना" शब्द भी है जिसको लोग किसी शोकाकुल परिवार को समवेदना सूचक प्रस्ताव के साथ मिलाकर कहते हैं कि संसार केवल कल्पना मात्र है—उनका ध्येय उस समय विश्व की निःसारता दिखलाकर सांत्वना दे पाना ही होता है—परन्तु ज्ञान दृष्टि से देखने वाले जानते हैं कि वस्तुतः कि कल्पना ही जगत है आत्मिक जगत की विशुद्ध कल्पनायें शारीरिक संसार की रचना करती हैं जो बात आत्मिक क्षेत्र में बहुत पहिले बन चुकी होती है वह उसके बहुत पीछे शारीरिक क्षेत्र में आती हैं और कभी कभी उसकी पूर्ति के लिये एक से अधिक बार शारीरिक क्षेत्र में आना पड़ता है—जैसे किसी बिचार शील महापुरुष के सद् विचार जब एकत्र होने लगते हैं तो वह मानसिक केन्द्र से निकलकर वाणी में उसके बाद लेखनी द्वारा निबंधित होकर पुस्तक रूप में व्यौहारिक जगत में बितरित होते हैं। एवं कभी कभी ऐसा भी हो जाता है कि वह सर्व साधारण के सामने इतना लेट पहुंचते हैं कि उनका प्रेषक व्यौहारिक संसार से निकल चुका होता है।

कल्पना के दो रूप होते हैं, एक क्षणिक दूसरा स्थायी सत्य और तत्व के आधार पर उठने वाली कल्पना जो अमर और अजेय होती है सदा एक रूप में चलती रहती है एवं स्वार्थ वाली निर्मूल कल्पनायें पानी के बुलबुलों की भांति उठा और बुझा करती हैं जैसे सुषुप्तादशा में कोई स्वप्न देखते हुये अपने कल्पित जगत की रचना कर लेता है और उसकी उत्पत्ति तथा समाप्ति स्वप्न के साथ ही होजाती है परन्तु दोनों प्रकार की कल्पना का प्रभाव स्थूल शरीर पर पड़ता ही है—जिसकी अनेक अटकलें लगाई जाती हैं अथवा ऐसा भी अनुभव में आया है कि स्वप्न सत्य होते हुये भी देखे गये हैं कारण यह होता है कि जब संयोग बशात् निश्चित कल्पना बंध जाती है तो वह स्वयं सत्य का ही रूप होती है।

आंतरिक शक्ति दृढ़ सत्यपूरित न्याय की स्वीच दबाने से अपना दिव्य प्रकाश प्रगट कर कर देती है, जिसको देखकर व्योहारिक संसार चकित होजाता है—अनुभव हीन मनुष्य स्वार्थ प्रेरणा से जब उपरोक्त प्रकाश प्राप्त करने में विकल होता है तो वह अपनी त्रुटियों को न देखकर सिद्धांत को ही भ्रम बतलाने लगता है—कारण यह होता है कि कनेकशन तो कटा हुआ रहता है फिर स्वीच दबाने से प्रकाश कैसे हो सक्ता है ? सर्व प्रथम आन्तरिक शक्ति का अनन्त शक्ति से कनेकशन मिलाने का अभ्यास करना चाहिये। निश्चित होकर बैठ जाइये स्वार्थ द्वेषादि दूषित मानसिक बिकारों को दूर करने का प्रयत्न कीजिये। जब मानसिक उद्वेग शांत होकर शिथिल हो जाय तो दृढ़ सत्य की कल्पना कीजिये कि यह आंतरिक शक्ति अनन्त शक्ति से मिलकर अब न्याय पूरित कार्य्यों को शारीरिक क्षेत्र से अलग रहकर करवा सक्ती है। सत्य न्याय की जो कल्पना उस समय उठेगी वह पूर्ण होकर ही रहेगी। कनेकशन मिल जाने पर प्रकाश का होना निश्चित ही है—शांतिमयी शुद्ध उपासना से जब कुवासनायें हट जाती हैं तो भी कनेकशन मिल जाता है जब कोई मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना चाहता है तो शारीरिक यात्रा आरम्भ होने से पहले मानसिक यात्रा का आवगमन समाप्त हो चुका होता है—एवं जैसे एक गणितज्ञ अनेक अंकों को यथा स्थान रखकर मिनटों में सत्य उत्तर देसक्ता है वैसे ही सत् साधक अपने कनेकशन के आधार पर विश्व विभ्रम को दूर रखकर न्याय कर्म्म करवा लेने में समर्थ होसक्ता है। कनेकशन प्राप्त कल्पना शक्ति

सत्य का इंजक्शन लगाकर अपने प्रभाव से समस्त अभाव दूर कर सकती है—एवं मन आनन्द में अपनी पवित्र कल्पना से सारे काम निकालने लगता है—उसे कठिनाई का रूप दिखाई ही नहीं पड़ता है—साधक अपनी सत्य प्रेरणा करके छुट्टी पाजाता है। बाधकों के प्रति प्रतिहिंसक भावना उठाने की उसे जरूरत ही नहीं पड़ती है क्यों कि वह काम तो स्वयं उसके ऊपर न होकर उस्मे अनन्त शक्ति पर होता है जो अपने अभिनय पात्र मूर्तियों में से किसी से भी ले सक्ता है अथवा नई रचना कर सक्ता है। जब ऋषियों को राक्षसों ने सताया तो उन्होंने अपनी आन्तरिक शक्ति को खट खटाया जिससे श्रीरामचन्द्रजी के रूप में दुष्टों के निधन का कार्य्य सम्पादित हुआ—न्याय पूरित कल्पना करने वाला केवल निश्चित परिणाम को जानता है—कार्य्य प्रणाली से उसको कोई काम नहीं, व्योहरिक जगत की सभी बातें आन्तरिक क्षेत्र में निपटाई जासकती हैं आंतरिक जगत इतना बिशाल है कि शारीरिक क्षेत्र उसके सामने नहीं के बराबर है। शक्ति साधक साधुओं की कथा संसार बराबर कहता आता है परन्तु अब उदर पोषक लोगों ने उस अध्ययन शाला को भी निष्कलंक नहीं रहने दिया है मारण,मोहन, उच्चाटन, वंशवृद्धि तथा अन्य धनोपार्जन के अनेक साधनों की वह एक ऐजन्सी सी बन गई है। यह बात भुला दीगई है कि अनन्त शक्ति सत्य साधक की शुद्ध कल्पना से न्याय रक्षा अथवा उचित सत्व वितरण करने का काम स्वयं करती है—एवं उचित मार्ग में पड़ने वाली अनुचित बाधाओं को न्याय की धार से निपटाने का भार भी उस्मी पर है। वह अपनी प्रगति के अनुसार सब कुछ करने में समर्थ है।

न्याय रहित स्वार्थ की भावना से की जाने वाली कल्पना मनोवृत्ति को दूषित बनाकर दुष्ट नीति वालों को अपने आप दंडित कर देती है। जैसे किसीने चाहा कि दूसरे का अनिष्ट होकर उसको सुख साधन प्राप्त होजाय परन्त वह दसरा उसका अनिष्ट नहीं चाहता इससे द्वंद युद्ध तो होता नहीं प्रत्युत हानिकर भावना जो पहले के हृदय में बैठ चुकी है उसी की हानि करती है और भी स्पष्ट शब्दों में यह बतलाया जा सकता है कि यदि बिष को किसी के मुख में डाला जाय परन्तु नाम दूसरे का लिया जाय तो जिसका नाम लिया जायगा वह न मरैगा—मरैगा वही जिसके गले से नीचे विष उतारा गया है प्रारंभिक दशा में शुद्ध काल्पनिक को चाहिये कि वह अपनी आंतरिक शक्ति को अनन्त शक्ति का अंश मानकर कनेकशन स्थापित कर अभाव से मानसिक भावना को दूर कर ले—शान्त होकर आनन्द का अनुभव प्राप्त करे। कुछ समय तक वह अपने कार्यक्रम लिख लिया करें। न्यायोचित अधिकार उसको स्वयं मिलने लगेंगे—शंका बढ़ाने वाली मानभड़कीली बाधायें स्वर्ण मयी लंका के समान सामने जलती हुई दिखाई पड़ने लगेंगी। जब मानसिक क्षेत्र का काम बढ़ने लगेगा तो शारीरिक गति बिधि की भावना क्रमशः घटने लगेगी—कुछ समय इस तरह बीतने पर शक्ति उपासना सिद्धि होकर अमर आनन्द की वृद्धि करेगी। और यह बात सुगमता से समझ में आजायगी कि अनन्त शक्ति की वह कल्पना जो एक से अनेक रूप रखकर विश्व रचना का कारण बनी हुई है प्रतिमात्र में बिराजमान है उसके न्यायोचित वितरण में कोई त्रुटि नहीं है अपनी भूल ही असफलता का कारण है।

आत्मिक आधार पर दृढ़ सत्य वाली कल्पनायें तत्काल पूरी होती देखी गई है—एवं ऐसी घटनाओं से इतिहास भरा पड़ा है। आज भी वैसे ही बातें होरही हैं। जिनको शंका हो स्वयं अभ्यास करके कल्पना की अनंत शक्ति का चमत्कार प्रत्यक्ष करके देखलें।

———

जिसके बाल सफेद होगये हैं वह बड़ा नहीं, बड़ा वह है जिसके विचार और कार्य बड़प्पन के हैं।

विवाह की उपयोगिता ।

(प्रो० रामचरण महेन्द्र एम० ए०)

आधुनिक मनोविज्ञान इच्छाओं को पार करने का मार्ग दर्शाता है, उनका दमन तानसिक बीमारियाँ उत्पन्न करता है। इसीसे अनेक बार मानसिक नपुंसकता उत्पन्न होती है। मनुष्य के अन्तस्थल में अनेक वासनाएं दब कर अन्तप्र देश में छिप जाती हैं। इनसे समय २ पर अनेक बेढंगे व्यवहार गाली देने की प्रवृत्ति, कुशब्दों का उच्चारण, आत्म हीनता की भावनाग्रन्थि की उत्पत्ति, स्मरण-विस्मरण, पागलपन, तथा प्रलाप हिस्टीरिया इत्यादि अनेक मानसिक व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। मानसिक व्यापारों में एक विचित्र प्रकार का संघर्ष चला करता है। मन की अनेक कोमल भावनाएं विकसित नहीं हो पातीं, मनुष्य शिकायत करने की मनोवृत्ति को शिकार बना रहता है। दूसरे के प्रति वह अनुदार रहता है, उसकी कटु आलोचना किया करता है। अधिक उग्र या असंतोषी, नाराज प्रकृति, तेज स्वभाव का कारण वासनाओं का समुचित विकास एवं परिष्कार न होना ही है। इस प्रकार का जीवन गीता में निंद्य माना गया है।

प्रत्येक स्त्री पुरुष के जीवन में एक समय ऐसा आता है, जब उसे अपने जीवन साथी की तलाश करनी होती है। आयु, विचार, भावना, स्थिति के अनुसार सद्गृहस्थ के लिए उचित जीवन साथी की तलाश होनी चाहिये। उचित शिक्षा एवं आध्यात्मिक विकास के पश्चात् किया हुआ विवाह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ठीक है। आजन्म कौमार्य या ब्रह्मचर्य महान् है। उनका फल अमित है किन्तु साधारण स्त्री पुरुषों के लिए यह संभव नहीं है। इससे मन की अनेक कोमल भावनाओं का उचित विकास एवं परिष्कार नहीं हो पाता। वासना को उच्च स्तर एवं उन्नति भूमिका में ले जाने के लिए एक एक सीढ़ी चढ़ कर चलना होता है। एक सीढ़ी को लाँघ कर दूसरी पर कूद जाना कुछ इच्छाओं का दमन अवश्य करेगा, जिससे फल स्वरूप मानसिक व्याधि हो सकती है। अतः प्रत्येक सीढ़ी पर पांव रख कर उन्नत जीवन पर पहुंचना ही हमारा लक्ष्य होना चाहिए।

एक पिता तथा माता के हृदय में जो नाना प्रकार के स्वर झंकृत होते हैं, उन्हें भुक्त भोगी ही जान सकता है। दो हृदयों के पारस्परिक मिलन से जो मानसिक विकास संभव है, वह पुस्तकों के शुष्क अध्ययन से प्राप्त नहीं किया जा सकता। विवाह कामवासना की तृप्ति का साधन मात्र है ऐसा समझना भयंकर भूल है। वह तो दो आत्माओं के, दो मस्तष्कों, दो हृदयों और साथ ही साथ दो शरीरों के विकास, एक दूसरे में लय होने का मार्ग है। विवाह का मर्म दो आत्माओं का स्वरैक्य (*Harmony*) है, हृदयों का अनुष्ठान है, प्रेम, सहानुभूति, कोमलता, पवित्र, भावनाओं का विकास है। यदि हम चाहते हैं कि पुरुष-प्रकृति तथा स्त्री-प्रकृति का पूरा पूरा विकास हो, हमारा व्यक्तित्व पूर्ण रूप से खिल सके तो हमें अनुकूल विचार, बुद्धि, शिक्षा एवं धर्म वाली सहधर्मिणी चुननी चाहिए। उचित वय में विवाहित व्यक्ति आगे चल कर प्रायः सुशील, आज्ञाकारी, प्रसन्नचित्त, सरल, मिलनसार, साफसुथरे, शान्तचित्त, वचन के पक्के, सहानुभूतिपूर्ण, मधुर भाषी, आत्म विश्वासी और दीर्घजीवी पाये जाते हैं।

कुंवारा प्रायः अतृप्त वासना, स्वप्नदोष, लड़कपन, संकोची और संकुचित दृष्टिकोण वाला रहता है, वह जिम्मेदारी नहीं लेना चाहता, समजिक कार्यों में दिलचस्पी नहीं रखता, दूसरों के दुर्गुणों तथा न्यूनताओं में मज़ा लेता है। संघर्ष से दूर भागता है, वह विरोधी, वाचाल तथा ईर्षा से युक्त होता है, क्रोध, घृणा, भय, वासना और लज्जा से उसकी शान्ति सदैव भंग रहती है। आजन्म कौमार्य देश, धर्म, और समाज के लिए हितकर नहीं है।

ग्रहस्थ में योग साधना

[पद्म पुराण से]

एक बार भीष्म जी ने महर्षि पुलस्त से पूछा- हे ब्रह्मन् ! सबसे अधिक पुण्य जनक जो अनुष्ठान हो उसका मुझसे वर्णन कीजिये।

पुलस्त ऋषि ने कहा- हे भीष्म इसी प्रकार एक बार व्यास जी के शिष्यों ने भी उनसे यही प्रश्न पूछा था व्यासजी ने इन प्रश्नों के उत्तर में अपने शिष्यों को कुछ आख्यान सुनाये थे सो उन आख्यानों को ही मैं आपको सुनाता हूं।

प्राचीन समय में एक नरोत्तम नामक युवक था। वह जब वह कुछ समर्थ हुआ तो वृद्ध माता पिता को निराश्रित छोड़ कर तप करने क लिए चला गया। बहुत दिन तप करने पर उसे कुछ आत्म शक्ति प्राप्त हुई। उसके गीले वस्त्र आकाश में अधर लटके रह कर सूखने लगे।

एक दिन वह वृक्ष के नीचे बैठा था। ऊपर एक पक्षी ने उसके ऊपर बीट करदी। नरोत्तम को क्रोध आया। क्रोध भरी दृष्टि जैसे उसने ऊपर देखा वैसे ही पक्षी भस्म होकर नीचे गिर पड़ा। अपनी इतनी आत्म शक्ति देकर उसे बड़ा अभिमान हुआ। अहंकार से उसका मन भर गया।

वह तपस्वी एक दिन भिक्षा के लिए नगर में गया। वहां जा कर उसने एक ग्रहस्थ के द्वार पर भिक्षा मांगी। भीतर से गृह स्वामिनी ने उत्तर दिया-भिक्षुक ! कुछ देर खड़े रहिए। पति सेवा में लगी हूं उसे पूरा करके भिक्षा दूंगी। तपस्वी को इस पर क्रोध आया, उसका चहरा तम-तमाने लगा। इस पर उस गृह-स्वामिनी ने कहा- क्रोधित मत हूजिए मैं पक्षी नहीं हूं, जो आपके क्रोध से जल जाऊंगी।

स्त्री के यह वचन सुन कर तपस्वी को बड़ा आश्चर्य हुआ। मेरे पक्षी जलाने की गुप्त घटना इसे किस प्रकार विदित होगई। निस्संदेह यह और पूछा- हे देवी ! तुमने यह आत्म शक्ति घर में रहते हुए किस प्राप्त प्रकार करली ? मैं तो इतनी तपस्या करने के वाद भी केवल क्रोध से पक्षी जलाने मात्र की सामर्थ्य प्राप्त कर सका हूं। पर भूत भविष्य की बातें जानने की शक्ति अभी तक मुझ में नहीं है। पर तुम्हारी शक्ति मुझसे अधिक है यह जिस साधन से तुम्हें मिली है उसे हे कल्याणी ! मुझ से कहो।

स्त्री ने कहा-हे तपस्वी ! मैं मन, कर्म, बचन, से पति सेवा में लगी रहती हूं। यही मेरी साधना है। इसके अतिरिक्त और कुछ जप तप मैं नहीं जानती। यदि आपको अधिक जानना हो तो तुलाधार वैश्य के पास चले जाइए।

तपस्वी तुलाधार के नगर को चल दिया। कठिन मार्ग को पार करके वहाँ पहुंचा। द्वार पर खड़े साधु को देख कर तुलाधार उठ खड़ा हुआ। उसने दंडवत् प्रणाम किया और पूछा हे नरोत्तम साधु ! आपको मार्ग में कुछ कष्ट तो नहीं हुआ ! उस पतिव्रता स्त्री के कहने से आपको मेरे पास आने का कष्ट हुआ ! पर अब बताइए-आपका पक्षी जलाने का अहंकार दूर हुआ या नहीं ?

इतने प्रश्न पूछने पर तपस्वी को और भी आश्चर्य हुआ इतनी अज्ञात बातें इस वैश्य ने किस प्रकार जानलीं ? निस्संदेह यह भी कोई सिद्ध पुरुष है।

नरोत्तम ने तुलाधार को प्रणाम किया और कहा-भगवन् ! ईश्वर की कृपा से मार्ग में कोई कष्ट नहीं हुआ। आपको मेरा नाम, पक्षी जलाने का हाल, तथा उस देवी ने मुझे भेजा है, यह सब जिस शक्ति के द्वारा जाना है उस शक्ति को प्राप्त करने की साधना मुझे बतलाइए।

तुलाधार नेउत्तर दिया ! भगवान् मैं साधारण वैश्य हूं। सचाई का व्यापार करता हूं। पूरा तोलता हूं। खरामाल देता हूं इसके अतिरिक्त मैं और कोई साधना नहीं जानता। इस साधना से

पास चले जाइए। वह आपको आत्म शक्ति का रहस्य बता देगा।

तपस्वी, तुलाधार से विदा होकर मूक चाण्डाल के नगर को चल दिया। वहाँ पहुंच कर देखा कि मैले कुचैले वस्त्र पहने हुए वह, चाण्डाल अपने मल उठाने के काम में लगा हुआ है। चाण्डाल ने नरोत्तम को दंडवत किया और कहा—भगवन्! आप जिस प्रयोजन के लिए आये हैं सो मैं जानता हूं। आप अभी जाकर विश्राम कीजिए। नियत कर्म से निवृत्त होकर आपसे मैं निवेदन करूंगा।

मूक चाण्डाल नियत कर्म से छुटकारा पाकर तपस्वी के संमुख उपस्थित हुआ उसने कहा भगवन्! मैं अपने माता पिता की दत्त चित्त से सेवा करता हूं उन्हें अपना देवता और इष्ट देव मान कर उनकी सेवा सुश्रूषा में लगा रहता हूं। यही मेरा साधन है। इस साधन के कारण ही मुझे आत्म शक्ति मिली है!

तब तपस्वी ने पूछा—हे मूक चाण्डाल! गृह-त्यागी, बनवासी, योग साधक जिस शक्ति को चिर काल तक कठोर साधन करके प्राप्त करते हैं, उसे गृहस्थ लोग इतनी सुगमता से किस प्रकार प्राप्त कर लेते हैं सो मुझे समझाइए।

चाण्डाल ने कहा— हे ब्रह्मन्! जप योग, तप योग, नाद योग, बिन्दुयोग, ध्यान योग की भाँति ही कर्मयोग भी एक अध्यात्मिक साधना है अपने नियत कर्म को श्रद्धापूर्वक, कर्तव्य की धर्म भावना से जो अनन्यमन द्वारा करता है वह योग साधन ही करता है। उस पतिव्रता का पातिव्रत, तुलाधार का धर्म व्यापार, मेरा सेवा धर्म, यह सब भी योग साधन से भिन्न नहीं हैं। श्रद्धा के साथ इन साधनाओं में रत रहने से भी आत्म साक्षात्कार होता है और ब्रह्मनिर्वाण मिलता है।

चाण्डाल के बचन सुन कर नरोत्तम को अपनी भूल पर पश्चाताप हुआ। वह वहाँ से सीधा अपने घर पहुंचा और वृद्ध माता पिता जो उसके वियोग में जर्जर होरहे थे, उनके चरणों पर गिर पड़ा। और कहा—हे प्राणवान देव प्रतिमाओ! मेरे अप-क्रिया युक्त उपदेश मुझे किये हैं उनके अनुसार अपना कर्तव्य पालन करता हुआ, आत्म कल्याण करूंगा।

इतने दिन बाद पुत्र को वापिस आया देखकर माता पिता को बड़ा आनंद हुआ। उनने उसे उठा कर बार बार छाती से लगाया और आशीर्वाद दिया कि तात! तुम्हारी साधना सफल हो। फिर जब तक माता पिता जीवित रहे नरोत्तम उनकी अनन्य भाव से सेवा करता रहा।

पुलस्त ऋषि ने कहा— हे भीष्म! व्यासजी ने जो आख्यान अपने शिष्यों को सो सुनाया था मैंने तुमसे कह दिया। अपने कर्तव्य धर्म को सच्चे मन से पालन करना यही सब से अधिक पुण्य जनक अनुष्ठान है। जो फल कठिन श्रम से प्रवीण साधकों को मिलता है वह कर्म योगी को सहज ही प्राप्त हो जाता। शास्त्र का भी यही बचन है—

सत्येन समभावेन जितंतेन जगत् त्रयम्।
तेनातृप्यन्त पितरो देवा मुनिगणैः सह।
भूत भव्यंप्रवृत्तंचतेन जानाति धार्मिकः।
नास्ति सत्यात्परो धर्म नानृतात्पातकं परम्॥

सत्यता और समत्व की भावना जिसमें है वह तीनों लोकों को जीत लेता है। उससे पितर, देवता और मुनि प्रसन्न रहते हैं। वह धर्मात्मा भूत, भविष्य और वर्तमान की बातें जान लेता है। सत्य से बड़ा और कोई धर्म नहीं, असत्य से बड़ा और कोई पाप नहीं। इसलिए सत्यता पूर्वक अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए। इसी में मनुष्य का सच्चा कल्याण है।

———

सात्विक सहायताएं

५) श्रीमती चन्द्रकान्ता जेरथ, दिल्ली
५) चौ० विश्वम्बरसिंह, सुरजनपुर
४] श्री वी० पी० मेहरोत्रा, बनारस
१) पं० श्रीराम शर्मा, फीरोजाबाद
२) श्री धर्मपालसिंहजी, हरदुआगंज
१।।] श्री ज्योती प्रसादजी, कानपुर
१] श्री मोहनलाल सक्सेना, बीवामऊ
१] श्री मती कौशिल्यादेवी, चरखारी स्टेट

बालक बन जाओ !

[कुमारी भारती]

उपनिषद् के ऋषि ने कहा है कि मनुष्य को सच्चा विद्वान् और ज्ञानी बनना चाहिये, ज्ञानी होने के बाद मनुष्य को बालक बनने का अभ्यास करना चाहिए।

यदि ज्ञानी होने के बाद मनुष्य बालक की तरह सरल पवित्र और निर्द्वन्द नहीं हो सका तो समझना चाहिए ज्ञान परिपक्व नहीं हुआ।

तुम बालक बनो, बालक का आदर करना सीखो, बालक को समझना सीखो।

बालक देव-लोक से आया है। वह छल कपट और दुराव नहीं जानता, तुम उससे यह सब सीखो। परन्तु यह नहीं होता तुम तो इसके विपरीत बालक को अपनी बुराइयाँ सिखा सभ्य और शिष्ट बनाने का दम्भ कर रहे हो। जब बालक नंगा रह कर मट्टी में लोट कर प्रकृति से सम्पर्क बनाए रखना चाहता है तब तुम उसे रुलाकर भी प्रकृति से परे रख कर अपने धनवान् होने का दम भरते हो। अपना यह रवैया बदलो, तुम बालक को ही अपना पथप्रदर्शक बनालो, कभी यह करके तो देखो।

तुम्हारे कुछ शत्रु हैं और कुछ मित्र हैं। तुम चाहते हो तुम्हारा बालक भी तुम्हारे शत्रु को अपना शत्रु और तुम्हारे मित्र को अपना मित्र माने, परन्तु बालक के लिए तो शत्रु और मित्र दोनों बराबर हैं उसके लिए काले और गोरे का भेद नहीं, गरीब और अमीर का फ़र्क कुछ नहीं, उसके लिए तो हरिजन और सवर्ण दोनों समान ही हैं। तुम अपने जीवन की विष-मताओं को ही सभ्यता उच्चता और पवित्रता समझते हो तुम्हारी मति भेद-प्रधान है जब कि बालक अभेद बुद्धि है।

तुम कुछ देर के लिए बालक के पीछे चलो। इस अभेद में और साम्य में अद्भुत आनन्द है तुम्हारा कभी किसी से झगड़ा हो जाय तो तुम उससे बदला लेने की फ़िक्र में रहते हो। अनेक वर्ष बीतने पर भी तुम किसी के उपकार को नहीं भूल सकते, मौका पड़ने पर तुम डंक मारने से नहीं चूकते। किसी ने तुम्हारे साथ कुछ भलाई भी की है यह तो तुम्हें याद नहीं रहता झट भूल जाता है दुःख में किसने साथ दिया, तुम्हारी उन्नति में किसका हाथ है, यह तुम्हें याद नहीं रहता परन्तु कब किसने तुम्हारे खिलाफ गवाही दी है यह तुम्हें कभी नहीं भूलता।

तुम इस बारे में बालक को ही अपना गुरु बनाओ। यदि कारण किसी से झगड़ा होगया है तो उसे शीघ्र भूल जाओ। कुढ़ते न रहो, मन में कीना न रखो दूसरों के अपकार को भूल जाओ उनके उपकार को कभी न भूलो। राग द्वेष से ऊपर उठने की यह कला बालक से सीखो।

बालक प्रेम का भूखा है ! उसे जो प्यार करे उसी के पास चला जाता है। वस्तुतः ईश्वर भी प्रेम में ही रहता है इसी लिए बालक को गोपाल [बाल गोपाल] कहा है। प्रेम और सादगी में ही सच्चा सौन्दर्य है। बालक को देखकर सभी उसे प्यार करना चाहते हैं। तुम बालक बनो सबके प्यारे बनो तुम्हें देखकर सब कोई तुम्हें प्यार करना चाहें।

सच्चा प्रेम बालक से होता है और बालक का ही प्रेम सच्चा होता है और सब प्रेम में स्वार्थ हो सकता है।

बालक शुद्ध और ब्रह्म रूप है तुम भी शुद्ध पवित्र बनो।

तुम सदा बालक के गुरु और नेता बनते हो यह तुम्हारी भूल है। अब तुम बालक को ही अपना गुरु और नेता बनाओ। यदि तुम ऐसा कर सकोगे तो अपनी वैयक्तिक और राष्ट्रीय कठिनाइयों का सही हल कर पाओगे।

स्वच्छ रहिए।

...च्छ मनुष्यता का प्रधान लक्षण है। जिसकी ... जितनी विकसित है वह उतना ही उन्नति ...हा जायगा। पशुओं को स्वच्छता और ...का ध्यान नहीं होता पर जिसमें मनुष्यता ... बढने लगता है वह स्वच्छता क्रमशः ... की ओर कदम बढाता जाता है। सुअर ... लोटता विष्ठा खाता है उसे उसमें कोई ...या घृणा नहीं होती पर जो जीव जितना ...सित होता जवेगा उतनी ही गंदगी से ...ा होती जायगी। वह स्वच्छ रहना, स्वच्छ ...ण में रहना पसंद करेगा।

...ता का जितना अंश मनुष्य में रहता है ... वह अस्वच्छ रहता है। कितने ही मनुष्य ...हते हैं। शरीर में मैल, दांतों पर मैल, ...क आंखों बालों और नखूनों में मैल, ...ता है। कपडों में पसीने की दुर्गन्ध आती ...म वे काले पड़े होते हैं। बिस्तर व चार-... गंदगी भरी रहती है। जहां जहां थूकना ...रा पटक देना, वस्तुओं को अव्यवस्थित ...घ पदार्थ तथा पाने का पानी जैसे तैसे ...ने देना, यह सब गंदी आदतें हैं। गंदे ...से गंदगी उत्पन्न होती है। जिसके मन में ...दगी से घृणा है और न स्वच्छता से प्रेम ...ारों ओर निश्चित रूप से गंदगी जमा ... यह कहना ठीक नहीं कि गंदगी का कारण ... वास्तव में मनुष्य की कुरुचि, गलीज ...ही इसका कारण है। गरीब होते हुए भी अपने शरीर, वस्त्र तथा मकान को स्वच्छ ...ता है। नहाने, धोने, झाड़ने, लीपने, पोतने ...या वस्तुओं का यथा स्थान रखने ...पसे की उतनी जरूरत नहीं है, जितनी ...।

...य सुन्दर वस्तुओं को पसंद करता है। ...ओर मन परबस खिच जाता है। सौंदर्य ...का ही दूसरा नाम है। गरीब आदमी अपनी झोंपडी को थोडा परिश्रम करके लीप पोत सकता है। झाड़ बुहार कर साफ रख सकता है। और लता पुष्पों से सजा सकता है। अव्यवस्थित ढङ्ग से पडी हुई कीमती चीजें भी कूडा है, और यथा विधि ठीक स्थान पर रखा हुआ कूडा भी स्वच्छता है। फटे पुराने कपडों को मरम्मत करके उन्हें ठीक तरह धोकर स्वच्छ रखा जा सकता है। तरीके से पहने हुए सस्ते कपड़े—लापरवाही धनी के बेढंगी पोशाक की अपेक्षा अधिक भले मालूम पड़ते हैं।

व्यवस्था शक्ति जो कि जीवन का महत्व पूर्ण अंग है—स्वच्छता का ही विकसित रूप है। सब कार्य यथा विधि हों, सब से यथोचित व्यवहार हो यह सब सौन्दर्य पूर्ण, दृष्टिकोण का फल है। कीचड, आलसी, लापरवाह स्वभाव के आदमी समय की पाबन्दी की नियमितता का, हिसाब किताब का, लेन देन का, ठीक प्रकार ध्यान नहीं रखते उनके काम प्रायः अधूरे, अव्यवस्थित, उलझे हुए पड़े रहते हैं। इस बेढङ्गी स्थिति के कारण उसे हानि ही हानि उठानी पडती हैं।

अस्वच्छता, मनुष्यता का अपमान है। गरीब होना कोई बुरी बात नहीं, पर गन्दा होना घृणास्पद है। गन्दगी—बीमार का दूसरा नाम है। जिसकी आंतों में मैल जमा रहता है वह कब्ज का रोगी कहा जाता है, जिसके खून में विषैले विजातीय पदार्थ भरे हैं वह रक्त विकार का रोगी कहा जाता है। इसी प्रकार जिसका मन गन्दा है, वह मानसिक रोगी है, जिसका चरित्र गन्दा है वह नैतिक रोगी है। स्वभाव और व्यवहार का गन्दा एक सामाजिक रोगी है। इस प्रकार के रोगी न दूसरों को सुखी रहने देते हैं। गन्दे मनुष्य मनुष्यता के लिए अभिशाप हैं। हमें चाहिए कि हम स्वच्छ रहें! न केवल शरीर, वस्त्र, मकान और सामान को साफ रखें वरन् अपने स्वभाव चरित्र व्यवहार और मन को भी स्वच्छ रखे। सर्वाङ्गीण स्वच्छता ही वास्तविक स्वच्छता है।

निर्माण-रहस्य ।

(श्री कुँ० हरिश्चन्द्र देव शर्मा 'चातक' कविरत्न)

मुग्धमना मृग ने सुन-सुन कर जिस दिन मृदु वीणा की तान ।
प्राण दे दिये उसी दिवस से प्रकट हुआ आकर्षण ज्ञान ॥
भ्रमरावलि ने खिली कली का जिस क्षण किया प्रथम चुम्बन ।
गुञ्जन ही कह गया कान में हुआ उसी क्षण प्रेम सृजन ॥

रूप दृगों में भर सरोजिनी जब रवि की करती थी चाह ।
तब तन्मयता ने पहले-पहले देखी आने की राह ॥
अस्ताचल गामी रवि-किरणें अन्तिम वार कमल छूकर ।
चली गई सन्देश विरह का तब से ही फैला भू पर ॥

बादल का घूँघट सरका कर जब सुधांशु नभ से झाँका ।
तब से ही आवरण रहित उस छवि का मूल्य गया आँका ॥
रात रात भर जाग कमुदनी ने जब प्रिय विधु को पाया ।
तब से काय मिलन से मन का मिलन श्रेष्ठ कवि ने गाया ॥

ताप तप्त जग को जब शीतल करने को निकले निर्झर ।
तब दुखियों के दुःख मिटाने की जागी भावना प्रखर ॥
कुहरे के परदे को जिस क्षण चीर दिनेश निकल आया ।
उस क्षण से ही साहस ने है जन्म मनुष्यों में पाया ॥

जिस दिन से देखा मानव ने सरिता का प्रवाह उद्दाम ।
उस दिन से ही ध्येय प्राप्त के हित वह दौड़ रहा अविराम ॥
जब देखा गुलाब कांटों में रह कर करते निज निर्माण ।
तब जाना उन्नत होते हैं विघ्न व्यूह में पड़ कर प्राण ॥

जब पतझड़ की पीली पत्ती पवन उड़ा कर लाया पास ।
तब जीवन की नश्वरता का मिला प्रथम जग को आभास ॥
जब से यह देखा मानव ने पवन घूमता है स्वच्छन्द ।
तब से ही स्वतन्त्र रहने की इच्छा उपजी उसे अमंद ॥
कवि ने जिस क्षण सुना क्रौंची बध पर क्रौंच का करुण विलाप ।
उस क्षण से ही स्रोत काव्य का बहा हृदय में अपने आप ॥

कर्मयोग से—

प्रकाशक—पं० श्रीराम शर्मा आचार्य, अखण्ड ज्योति कार्यालय, मथुरा ।
मुद्रक—रमनलाल बंसल पुष्पराज प्रिटिङ्ग वर्क्स, मथुरा ।